शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष:7 अंक:35 (मूल क्रमांक 92)
मई-जून 2014 मूल्य: ₹ 30.00

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर
रश्मि पालीवाल
सहायक सम्पादक
पारुल सोनी
अम्बरीष सोनी
विनता विश्वनाथन
सम्पादकीय सहयोग
सुशील जोशी
रुस्तम सिंह
उमा सुधीर
आवरण
राकेश खत्री
प्रोडक्शन एवं डिज़ाइन
कमलेश यादव
इन्दु नायर
वितरण
झनक राम साहू

शैक्षणिक
संदर्भ
शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
वर्ष:7 अंक:35 मई-जून 2014
(मूल क्रमांक 92)
एक प्रति का मूल्य: ₹ 30.00

सम्पादन एवं वितरण
एकलव्य, ई-10, बी.डी.ए. कॉलोनी,
शंकर नगर, शिवाजी नगर,
भोपाल, म. प्र. 462 016
फोन : 0755 - 255 1109, 267 1017
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन- sandarbh@eklavya.in
वितरण- circulation@eklavya.in

सदस्यता	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
व्यक्तिगत	150 रुपए	400 रुपए	2500 रुपए
संस्थागत	300 रुपए	750 रुपए	5000 रुपए

मुखपृष्ठ: ***पिचर प्लांट*** - पौधों का एक अनोखा समूह जो मांसाहारी है। इन पौधों ने ज़रूरत के अनुरूप अपनी पत्तियों को बहुत ही अलग-अलग तरीके से विकसित किया है। ये अन्य पौधों से न सिर्फ अपने पोषण की दृष्टि से बल्कि प्राकृतवास की दृष्टि से भी भिन्न हैं। इनका रूप-रंग भी काफ़ी अलग होता है। इन पर लेख पढ़िए पृष्ठ 45 पर।

पिछला आवरण: ***माइकल फैराडे का पोर्ट्रेट*** - फैराडे का महत्वपूर्ण योगदान विद्युत-चुम्बकत्व और विद्युत रसायन के क्षेत्र में रहा है। इन क्षेत्रों में विद्युत चुम्बकीय प्रेरण और विद्युत-अपघटन के सिद्धान्त फैराडे की ही देन हैं। विज्ञान में प्रचलित एनोड, कैथोड और आयन जैसी शब्दावलियों को प्रचारित करने में फैराडे ने अहम भूमिका निभाई। इनसे सम्बन्धित लेख पढ़िए पृष्ठ 7 पर।

लिंक: **मुखपृष्ठ:** http://www.gardeningclan.com/growing-pitcher-plants.html
आवरण :http://commons.wikimedia.org/wiki/File:M_Faraday_Th_Phillips_oil_1842.jpg

इस अंक में उन सब चित्रों के स्रोत जिनके बारे में चित्र या लेख के साथ उल्लेख नहीं है, इंटरनेट की विविध वेबसाइट हैं।

बुरा मत बोलो, बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो

दुनिया में कुछ चीज़ें अच्छी भी हैं!

जैसे - *संदर्भ*

एक प्रति का मूल्य 30 रुपए
एक साल की सदस्यता 150 रुपए
तीन साल की सदस्यता 400 रुपए

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें

एकलव्य
ई-10, बी.डी.ए. कॉलोनी, शंकर नगर,
शिवाजी नगर, भोपाल, म.प्र. पिन 462016
फोनः 0755 - 2671017, 2550976
ई-मेलः sandarbh@eklavya.in

31

पाठ्यक्रम का देसीकरण - भाग 1

विगत कुछ दशकों में स्कूली शिक्षा और पाठ्यक्रम को बच्चों के अनुभवों और परिवेश से जोड़ने के अनेक प्रयास किए गए हैं। खास तौर पर वंचित तबकों के बच्चों का मुख्यधारा की शिक्षा से जुड़ाव बढ़ाने के लिहाज़ से।

स्कूल को बच्चों की दुनिया के नज़दीक लाने, बच्चों को स्कूल में सहज महसूस हो इसके लिए उस इलाके के पारम्परिक खेल, चुटकुले, पहेलियाँ, कहानियाँ, गीत और नृत्य को शामिल करके दूरी को कम करने के प्रयास किए गए हैं।

मध्यभारत की एक प्रमुख जनजाति बैगा के सामाजिक जीवन का अध्ययन करते हुए लेखिका ने इस शोधपत्र में पाठ्यक्रम में स्कूल बनाम घर के विभाजन और वर्तमान भारतीय स्कूली पाठ्यक्रम नीति में देशज ज्ञान के समावेश पर विचार किया है।

जन्तु-भक्षी पौधों की दुनिया

वनस्पतियों का एक समूह काफी फर्क किस्म का है - ये हैं कीटभक्षी पौधे जो अन्य पौधों से न सिर्फ अपने पोषण की दृष्टि से बल्कि प्राकृतवास की दृष्टि से भी भिन्न हैं। सामान्यतः कीटभक्षी पौधों में सनड्यू, पिचर प्लांट, बटरवार्टस, ब्लैडरवॉर्टस और वीनस फ्लाईट्रैप जैसे तमाम पौधे शामिल हैं। इन पौधों में से कई भारत में भी पाए जाते हैं। इन पौधों के शिकार भी बहुत विविध होते हैं - इनमें कीट, मकड़ियों से लेकर घोंघे व केंचुए तक शुमार हैं।

45

इस लेख में कीटभक्षी पौधों के प्राकृतवास और शिकार के तरीकों के बारे में विस्तार से जानेंगे। साथ ही यह भी समझने का प्रयास करेंगे कि क्या ये जैविक कीट नियंत्रक के रूप में उपयोगी सिद्ध होंगे।

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-35 (मूल अंक-92), मई-जून 2014

इस अंक में

4 | **आपने लिखा**

7 | **विद्युत, गैसें और टूटता परमाणु - भाग 2**
सुशील जोशी

17 | **धीमे विचार - भाग 2**
अतुल गवंडे

31 | **पाठ्यक्रम का देसीकरण - भाग 1**
पद्मा सारंगपाणी

42 | **जिज्ञासा, आदर, विज्ञान और कलाएँ**
राजा मोहन्ती

45 | **जन्तु-भक्षी पौधों की दुनिया**
अमृता सक्सेना, ऋचा रघुवंशी, एच.बी. सिंह

56 | **सूरज, चाँद और धरती क्यों हैं?**
सवालीराम

59 | **क्या चुम्बक की शक्ति खर्च भी होती...?**
ब्रजेश कुमार

63 | **शिक्षण में थिएटर: एक अनुभव**
अनिल सिंह

73 | **बचपन से... बचपन तक...!**
संघमित्रा आचार्य

80 | **जीत का जश्न**
रिनचिन

89 | **एक अनोखी मछली**
अरविन्द गुप्ते

आपने लिखा

शैक्षणिक संदर्भ अंक 91, मार्च-अप्रैल 2014 का महत्वपूर्ण अंक बेहद पठनीय है। इस अंक में भाषा विज्ञान पर आधारित रमाकान्त अग्निहोत्री का आलेख 'बल, चल, हल...' पढ़ने के बाद लगा कि भाषा की व्यापकता एवं अन्तरंगता में बहुत-सी बातें अन्तर्निहित हैं। इस आलेख के माध्यम से वचन को लेकर जिस तरह का व्यवहार बताया गया है, इस पर हर किसी को गौर करना चाहिए। जिन 30 सवालों को बेहतर तरीके से बताने का प्रयास किया गया है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

इसी अंक में श्रीदेवी जी द्वारा लिखित आलेख 'पतियोगिता और प्रतियोगिता' बच्चों के सीखने के चरण दर्शाता है कि आखिर भाषा शिक्षण के समय किन-किन बातों पर गौर करना ज़रूरी है। 'र' के समग्र रूप का समाधान वाकई कई प्रचलित उदाहरणों के माध्यम से ही बेहतर तरीके से समझाया जा सकता है। कई शिक्षक साथी अपने स्तर पर बेहतर प्रयास करके बच्चों की भाषाई दक्षता को काफी आगे बढ़ा रहे हैं। ऐसे रुचिकर शिक्षकों का अग्रिम पंक्ति में सम्मान करना होगा ताकि सृजनात्मकता एवं रचना-धर्मियों की संख्या में वृद्धि हो सके। इस दिशा में श्रीदेवी जी का प्रयास एवं कनहारपुरी गाँव की शिक्षिका की तारीफ करनी होगी जो इस कार्य को अंजाम दे रही हैं।

'शिक्षा का उद्देश्य - शहरी वंचित समुदाय के सन्दर्भ में' शिवानी तनेजा का आलेख देश की सबसे बड़ी सच्चाई को उजागर करता हुआ भागीरथ प्रयास है। वाकई शिवानी जी, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के मूल बिन्दु शिक्षा के व्यापक स्वरूप पर गौर करें तो पाठ्यक्रमों का स्वरूप, बोझिल पाठ्य, देश-दुनिया का इतिहास सच्चाई से कोसों दूर, अपनी ज़मीनी हकीकत के इतिहास से कहीं दूर ही नज़र आता है। शिक्षा, समाज की व्यापकता में कुछ हद तक मार्गदर्शन का काम करती है। अगर इस आलेख को भी आधार मान कर चलते हैं तो कई जगह उल्लेखित है कि शिक्षा कितनी उपयोगी है। साक्षरता के लिए शिक्षा का होना अतिआवश्यक है। जीवन के हर पल में चाहे वह बैंक, कचहरी, बस, पान की दुकान, रेल गाड़ी, मज़दूरी का पैसा, सिलाई, कबाड़ी, बच्चों की पढ़ाई के लिए निर्णय, समाज में बातचीत, भय को मिटाने के लिए, व्यवहार में बदलाव के लिए, त्वरित निर्णय लेने के लिए, तर्क लगाने के लिए, अन्तर महसूस करने के लिए, लैंगिक असमानता दूर करने के लिए, समानता का भाव लाने के लिए, असमानता का भेद मिटाने के लिए आदि में सभी जगह शिक्षा बहुपयोगी है। मेरा खुद का अनुभव है कि समाज में उन लोगों का महत्व अधिक है जो अधिक पढ़े-लिखे हैं, जो अधिक तर्क एवं न्याय संगत बात कर सकते हैं।

अगर समाज की व्यावहारिक दिक्कतों पर गौर करें तो भी परिवार को खाने, पहनने एवं रहने की मूल दिक्कत के अलावा शिक्षा पाना भी आज मूल समस्याओं में से एक है। पर साथ ही समाज में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो शिक्षा की कठिन डगर को

सरलतम कार्यरूप देने में लगे हुए हैं।

'संदर्भ' के इस अंक के लिए सम्पादक, सहायक सम्पादक एवं सम्पादकीय सहयोग टीम बधाई के पात्र हैं।

नरेन्द्र साहू,
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, धमतरी, छत्तीसगढ़

शैक्षणिक संदर्भ अंक 90 सही समय पर भिजवाने के लिए धन्यवाद।

सुशील जोशी का पहला ही आलेख 'तथ्यों की एक्सपायरी तारीख' शिक्षकों के लिए एक मार्गदर्शक लेख है।

ख्यातनाम शिक्षाविद् कृष्ण कुमार के साथ दिशा नवानी की बातचीत बहुत ज्ञानवर्धक लगी। यह एक कटु सत्य है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था पाठ्यपुस्तकों पर बहुत अधिक निर्भर है और इसके बाद भी, पुस्तकों का स्तर प्रायः न तो बच्चों के अनुकूल है, न शिक्षकों के। पुस्तक लेखन में भी तथाकथित शिक्षाविदों की ही चलती है जो किसी-न-किसी पूर्वाग्रह को लेकर पुस्तक लिखवाना चाहते हैं।

राजस्थान में गत सत्र (2013-14) से कक्षा एक से पाँच तक नई पाठ्यपुस्तकें लागू की गई हैं, जिनमें एकलव्य का भी कुछ योगदान रहा है, परन्तु इन पुस्तकों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए जिस आदर्श व्यवस्था की ज़रूरत है वह यहाँ अभी कोसों दूर है। अभी तक शिक्षकों की भी समझ में नहीं आया है कि इन पुस्तकों का क्या करें, विशेषकर अँग्रेज़ी की पुस्तकों का स्तर अत्यन्त जटिल और अस्पष्ट है।

जिस राज्य में अभी तक शिक्षक प्रशिक्षण ही शायद स्वंतत्रता-पूर्व का चल रहा है वहाँ इन नवाचारों को समझाना और लागू करना टेढ़ी खीर है। पहली व तीसरी की अँग्रेज़ी की किताबों में ऐसे-ऐसे कठिन शब्द हैं जिनको पढ़ने के लिए शब्दकोष का सहारा लेना ज़रूरी हो जाता है।

प्रो. कृष्ण कुमार ने पाठ्यपुस्तक को लेकर जो अपने विचार बताए हैं, मैं उनका समर्थन करता हूँ। प्राथमिक कक्षाओं में तो दरअसल पाठ्यपुस्तकें होनी ही नहीं चाहिए। वरन् यह कार्य शिक्षकों को ही सौंप देना चाहिए कि वे अपने विद्यालय के लिए खुद ही एक पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या निर्धारित करें। सरकार को बस ज़्यादा-से-ज़्यादा ऐसा करने के लिए कुछ प्रशिक्षण और दिशा-निर्देश उपलब्ध करवा देने चाहिए।

'स्थूल अर्थशास्त्र' में अमित भादुड़ी जी ने इस नीरस विषय की कई सरस बातें बताईं, साथ ही इसके कई रहस्य भी प्रकट किए। अर्थशास्त्र की कठिन शब्दावली हमारे राजनेताओं के लिए सीधी-साधी जनता को बहकाने के लिए अच्छा हथियार है।

रमेश जांगिड़, शिक्षक
हनुमानगढ़, राजस्थान

शैक्षणिक संदर्भ अंक 90 में सुशील जोशी का आलेख 'तथ्यों की एक्सपायरी तारीख' बहुत अच्छा लगा। ऐसे लेख विज्ञान की सही चेतना को फैलाने में मदद करते हैं। उतना ही अच्छा है सुशील शुक्ला का लेख 'साहित्य और पढ़ना सीखना के इर्द-गिर्द कुछ बातें' और दिशा नवानी की कृष्ण कुमार जी के साथ बातचीत।

प्रेमपाल शर्मा,
नई दिल्ली

सृजन में भाषा बाधा नहीं बनती

एक सिरिंज पर वार्निश चढ़े ताँबे के तार के 500 घेरे लपेट कर तार के दोनों सिरों पर एल.ई.डी. लगाइए। सिरिंज का पिस्टन निकाल कर भीतर थोड़ी-सी रुई रखिए फिर नियोडायनियम का ताकतवर चुम्बक सिरिंज के भीतर रखकर, अँगूठे से सिरिंज का मुँह बन्द करके, सिरिंज को आगे-पीछे हिलाइए और देखिए क्या एल.ई.डी. जल रहा है?

संदर्भ मराठी एवं गुजराती भाषा में भी उपलब्ध है

सम्पर्क कीजिए

संदर्भ (मराठी)

शैक्षणिक संदर्भ - संदर्भ सोसायटी
c/o समुचित इन्वायरो टेक प्राइवेट लिमिटेड,
फ्लेट न. 06, एकता पार्क को-ऑप हाउसिंग
सोसायटी, निर्मिति शोरूम के पीछे,
अभिनव हाई स्कूल के पास, लॉ कॉलेज रोड,
पुणे 411004, फोन: 020 - 25460138
ई-मेल: sandarbh.marathi@gmail.com

संदर्भ (गुजराती)

नचिकेता ट्रस्ट
आर्च दवाखाना के पास, नगारिया,
धरमपुर, ज़िला वलसाड,
गुजरात 396050
फोन: 02633 - 240409

विद्युत, गैसें और टूटता परमाणु

सुशील जोशी

डाल्टन का परमाणु सिद्धान्त एक मील का पत्थर साबित हुआ और इसके आधार पर हम रासायनिक क्रियाओं को समझ पाए। हम यह बताने में सक्षम होते गए कि किसी क्रिया में किस पदार्थ की कितनी खपत होगी। पदार्थों के सूत्र बने, परमाणु भारों के आधार पर आवर्त तालिका बनी। तत्वों के विविध गुणों को परमाणु के आधार पर समझकर हम उनको वर्गीकृत कर पाए और यह समझ पाए कि किसी पदार्थ में किस तरह के गुणधर्मों की उम्मीद करनी चाहिए। आवर्त नियम से नए तत्वों की भविष्यवाणियाँ हुईं और सही साबित हुईं। तो परमाणु सिद्धान्त की पुष्टि होती गई।

मगर साथ-साथ एक बात और हुई। इस सिद्धान्त के कई बिन्दुओं पर पुनर्विचार भी शुरू हुआ। नए-नए अवलोकनों के प्रकाश में इस सिद्धान्त में परिष्कार आवश्यक होता गया। हर बार नए अवलोकन सामने आने पर तरीका वही रहा - कुछ मान्यताएँ स्वीकार करके मूल मॉडल में सुधार किए गए या उस पर कुछ नई सीमाएँ

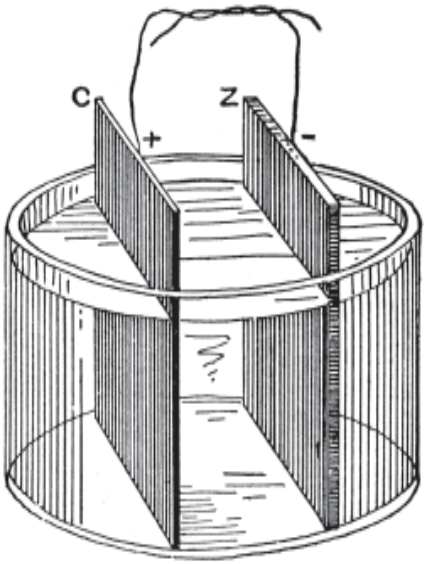

आरोपित की गईं।

जैसे इसी बात को लें कि तत्वों के बीच क्रिया क्यों होती है। क्यों कुछ तत्व क्रिया करते हैं, कुछ नहीं करते? या यह कैसे तय होता है कि वे किस अनुपात में क्रिया करेंगे? दूसरे शब्दों में, वेलेंसी यानी संयोजकता किस बात से तय होती है? क्यों हाइड्रोजन की संयोजकता 1 है जबकि कार्बन की संयोजकता 4 है? डाल्टन और उनके बाद कई सालों तक संयोजकता की अवधारणा सामने नहीं आई थी, संयोजी भार से ही काम चलता था।

विद्युत धारा से मिली राह

आगे का घटनाक्रम कई रास्तों से आगे बढ़ा। इनमें से एक महत्वपूर्ण रास्ता विद्युत धारा पर सवार था। विद्युत से मनुष्य का परिचय तो आसमान से गिरने वाली बिजली के माध्यम से काफी प्राचीन काल से था मगर 'विद्युत क्या है' वगैरह जैसे प्रश्न थोड़ी देर में उठे।

जब विद्युत और प्रकाश की गहराई से जाँच पड़ताल हुई तो इसके झटके परमाणु को भी लगे। देखते हैं कैसे।

दरअसल, परमाणु टूटने का रास्ता विद्युत के अध्ययन से शुरू हुआ था। आकाशीय विद्युत की बात तो अलग मगर प्राचीन काल में ही लोग यह देख चुके थे कि जब एम्बर की छड़ को किसी कपड़े या ऊन वगैरह से रगड़ा जाता है तो वह एम्बर कई चीज़ों को अपनी ओर आकर्षित करने लगता है। एम्बर को यूनानी भाषा में इलेक्ट्रिकस कहते हैं और इसी से नाम आया 'इलेक्ट्रिसिटी'। ऐसा माना गया कि 'इलेक्ट्रिसिटी' नाम का एक तरल पदार्थ होता है जिसमें आकर्षण का गुण पाया जाता है।

अट्ठारहवीं सदी के शुरू में कुछ प्रयोग हुए जिनसे यह स्पष्ट हुआ कि घर्षण से पैदा होने वाला यह आकर्षण का गुण दो तरह का होता है। इसके आधार पर कुछ लोगों का मानना था कि विद्युत नामक तरल दो तरह का होता है। इसके करीब एक दशक बाद बेंजामिन फ्रेंकलिन ने सुझाया था कि दरअसल तरल तो एक ही तरह का है मगर इसके प्रभाव में भिन्नता इसलिए आती है क्योंकि इसका दबाव यानी मात्रा अलग-अलग होती है। मगर फ्रेंकलिन यह स्पष्ट नहीं कर पाए थे कि किस परिस्थिति में क्या होता है।

इस सन्दर्भ में सबसे रोचक प्रयोग विद्युत विच्छेदन से सम्बन्धित हैं। 1800 के आसपास वोल्टा ने एक विद्युत बैटरी बना ली थी। ठोस पदार्थों में विद्युत के चालक और कुचालक तो काफी पहले पहचान लिए गए थे। मगर तरल पदार्थों में विद्युत प्रवाह के प्रयोग उन्नीसवीं सदी में शुरू हुए।

पानी वैसे तो कुचालक होता है मगर यदि इसमें कोई पदार्थ घुला हो, तो कभी-कभी यह चालक की तरह व्यवहार करता है। इस तरह के कई प्रयोगों से तरल पदार्थों की चालकता को समझने में मदद मिली। इनमें से

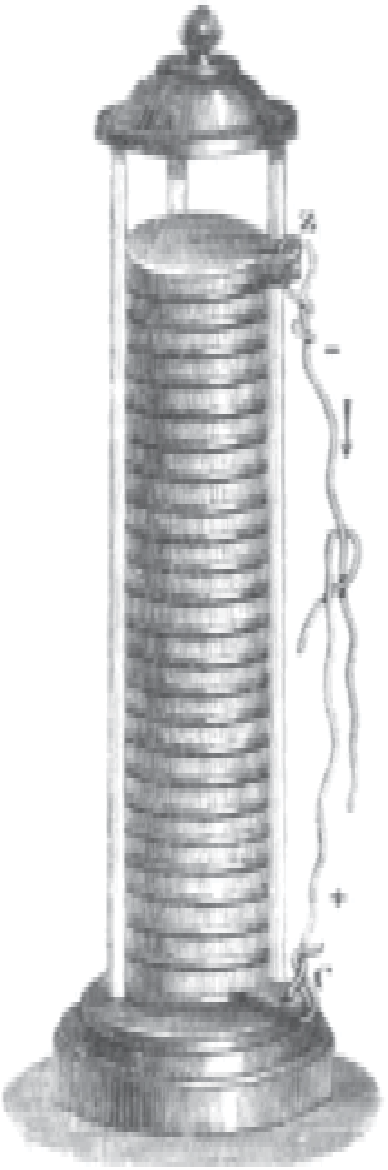

वोल्टा की विद्युत बैटरी में एक के बाद एक ताँबे और जस्ते की कई चकतियों की जमावट थी। ताँबे और जस्ते की चकती को नमक के घोल से भीगे कपड़े या कागज़ की मदद से अलग किया जाता था।

सबसे सटीक व मात्रात्मक प्रयोग माइकल फैराडे ने किए थे और ये प्रयोग व इनके निष्कर्ष परमाणु संरचना को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण साबित हुए थे।

पदार्थों का विद्युत विच्छेदन

दरअसल, एलेसैंड्रो वोल्टा ने 1800 में वोल्टेइक सेल बना लिया था। इससे विद्युत धारा का एक स्रोत हाथ में आ गया। इसकी मदद से सबसे पहले हम्फ्री डेवी ने पानी में विद्युत धारा प्रवाहित की और देखा कि ऐसा करने पर पानी अपने तत्वों - हाइड्रोजन और ऑक्सीजन - में टूट जाता है। हाइड्रोजन गैस के बुलबुले ऋण इलेक्ट्रोड (कैथोड) पर तथा ऑक्सीजन के बुलबुले धन इलेक्ट्रोड (एनोड) पर इकट्ठे होते हैं। इस क्रिया को विद्युत विच्छेदन कहते हैं। हम्फ्री डेवी ने कई पदार्थों का विद्युत विच्छेदन करके देखा था। जब उन्होंने हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (उस समय उसे म्यूरिएटिक एसिड कहते थे) में विद्युत प्रवाहित की तो कैथोड पर हाइड्रोजन और एनोड पर एक नई गैस मुक्त हुई। इस नई गैस को क्लोरीन नाम दिया था। इसी विधि से उन्होंने सोडियम व पोटेशियम तत्वों की भी खोज की थी।

अलबत्ता, विद्युत विच्छेदन के साथ गहनता से मात्रात्मक प्रयोग माइकल फैराडे ने 1833 में किए थे। जैसे, फैराडे ने पानी का विद्युत विच्छेदन करते समय हाइड्रोजन व ऑक्सीजन

की मात्रा को नापा। फिर उन्होंने इन मात्राओं और विद्युत धारा के बीच सम्बन्ध देखने की कोशिश की। उन्होंने पाया कि हर इकाई बिजली बहने पर हाइड्रोजन के दो इकाई आयतन और ऑक्सीजन का एक इकाई आयतन बनता है। यदि विद्युत की मात्रा दुगनी कर दी जाए, तो दोनों गैसों की मात्रा भी दुगनी हो जाती है।

इसी प्रकार से उन्होंने यह भी नापा कि जब कॉपर सल्फेट के घोल का विद्युत विच्छेदन करते हैं, तो कैथोड पर जमा होने वाले ताँबे की मात्रा विद्युत की मात्रा के समानुपाती होती है।

पानी के विद्युत विच्छेदन से हाइड्रोजन व ऑक्सीजन बनने के मामले में यह भी स्पष्ट था कि हाइड्रोजन का आयतन हमेशा ऑक्सीजन से दुगना होता था। वज़न के हिसाब से देखेंगे तो एक इकाई विद्युत से यदि 1.008 ग्राम हाइड्रोजन पैदा होगी तो ऑक्सीजन 8 ग्राम। इन मात्राओं का सम्बन्ध इन गैसों के परमाणु भारों से है। जहाँ हाइड्रोजन अपने परमाणु भार के बराबर बनती है वहीं ऑक्सीजन अपने परमाणु भार से आधी।

जब फैराडे ने नमक को पिघलाकर उसका विद्युत विच्छेदन किया तो कैथोड पर सोडियम और एनोड पर क्लोरीन गैस जमा हुई। एक कूलंब आवेश प्रवाहित होने पर 2.38×10^{-4} ग्राम सोडियम और 3.68×10^{-4} ग्राम क्लोरीन मिली। इसका मतलब हुआ कि 1 ग्राम परमाणु भार सोडियम (23 ग्राम) जमा करने के लिए 96,500 कूलंब विद्युत प्रवाहित करनी होगी। इसी प्रकार से 1 ग्राम परमाणु भार क्लोरीन (35.5 ग्राम) प्राप्त करने के लिए भी 96,500 कूलंब आवेश प्रवाहित करना होगा।

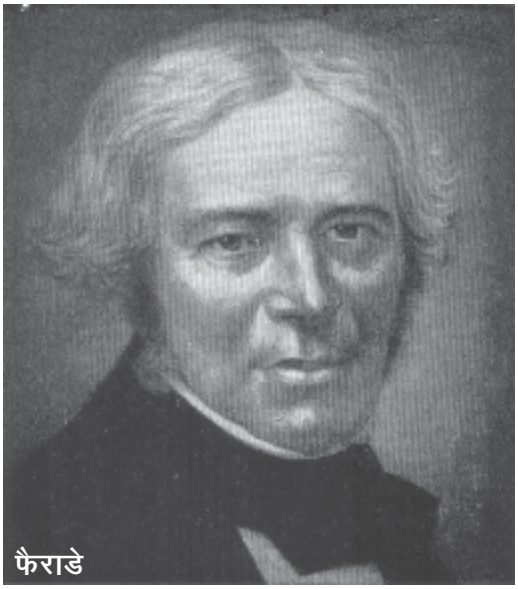
फैराडे

इसी प्रकार से यदि पानी में 96,500 कूलंब विद्युत प्रवाहित की जाए, तो 1.0008 ग्राम हाइड्रोजन (1 ग्राम-परमाणु भार) और 8 ग्राम (यानी आधा ग्राम-परमाणु भार) ऑक्सीजन हासिल होगी। ग्राम परमाणु भार से आशय है उस तत्व का परमाणु भार ग्राम में व्यक्त करना।

कुल मिलाकर फैराडे के इन

विद्युत अपघटन

विद्युत विच्छेदन या विद्युत अपघटन के प्रयोग सबसे पहले हम्फ्री डेवी ने किए थे और पिघले नमक (सोडियम क्लोराइड) में विद्युत प्रवाहित करके सोडियम व क्लोरीन प्राप्त की थी। कतिपय तरल पदार्थों में विद्युत प्रवाहित करने पर उनका अपघटन हो जाता है और उनके हिस्से इलेक्ट्रोड्स पर मुक्त हो जाते हैं।

विद्युत विच्छेदन, वास्तव में, विद्युत आवेश के प्रभाव से अणुओं के टूटने के कारण होता है। अणु दो हिस्सों में टूटते हैं और प्रत्येक हिस्से को आयन कहते हैं - धनायन और ऋणायन। चूँकि ये आयन परमाणु भार के अनुपात में बनते हैं, इसलिए लगता है कि इन पर एक निश्चित आवेश होता है। यानी किसी आयन पर मौजूद आवेश विद्युत आवेश की इकाई जैसा है।

पानी के विच्छेदन में हमने देखा कि हाइड्रोजन तो 1 ग्राम-परमाणु भार के बराबर निकलती है मगर ऑक्सीजन मात्र 1/2 ग्राम-परमाणु भार निकलती है। जहाँ सोडियम, क्लोरीन और हाइड्रोजन की संयोजकता 1 है, वहीं ऑक्सीजन की संयोजकता 2 है। अर्थात् 96,500 कूलंब विद्युत प्रवाहित करने पर एक-संयोजी तत्व की ग्राम-परमाणु भार के बराबर मात्रा मुक्त होती है जबकि द्वि-संयोजी तत्वों की 1/2 ग्राम-परमाणु भार मात्रा।

नपे-तुले प्रयोगों से दो नियम उभरे। पहला नियम यह था कि विद्युत विच्छेदन के दौरान किसी भी पदार्थ की मुक्त मात्रा कुल विद्युत धारा की मात्रा के समानुपाती होती है। और दूसरा नियम कि तत्व की मुक्त मात्रा उसके ग्राम परमाणु भार बटा संयोजकता के भी समानुपाती होती है।

इन नियमों की व्याख्या कैसे हो? एक तो परमाणु सिद्धान्त के मुताबिक पदार्थ परमाणु से बने होते हैं। इसलिए विद्युत विच्छेदन के दौरान उनका परमाणु भारों के अनुपात में पैदा होना परमाणु के अस्तित्व की पुष्टि करता है।

मगर इन मात्राओं का विद्युत

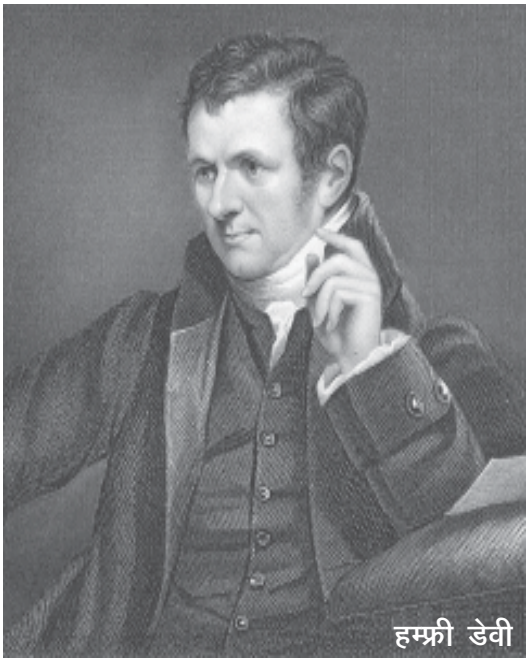
हम्फ्री डेवी

की मात्रा के समानुपाती होने की बात का क्या अर्थ है? इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात तो यह है कि विद्युत की एक निश्चित मात्रा के प्रभाव स्वरूप हरेक तत्व की जो मात्रा एकत्रित होती है वह उसके परमाणु भार में संयोजकता का भाग देने से प्राप्त मान के समानुपाती होती है। इसका मतलब यह निकाला जा सकता है कि विद्युत भी कुछ बुनियादी न्यूनतम मात्राओं के रूप में पाई जाती है और विद्युत की यह न्यूनतम मात्रा विद्युत के एक परमाणु के रूप में व्यवहार करती है। फैराडे के नियमों के आधार पर विद्युत की इस न्यूनतम मात्रा की गणना की गई थी जो एक-संयोजी आयन के आवेश के बराबर थी।

इस बात पर फैराडे ने विचार ज़रूर किया था मगर वे परमाणु के अस्तित्व को लेकर ही आश्वस्त नहीं थे। इसलिए उन्होंने इस विचार को ज़्यादा तरजीह नहीं दी।

वैसे उस समय तक अर्हीनियस आयन सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। यदि हम यह मानें कि विद्युत विच्छेदन के दौरान आवेश आयनों पर सवार होकर गमन करते हैं, तो ज़ाहिर है कि आवेश की एक न्यूनतम मात्रा होनी चाहिए जो एक आयन के साथ सम्बद्ध होगी। कुल मिलाकर निष्कर्ष यह था कि पदार्थ के परमाणु के समान विद्युत की भी एक निश्चित न्यूनतम मात्रा या इकाई होती है। 1838 में रिचर्ड लैमिंग ने परमाणुओं के रासायनिक गुणधर्मों की व्याख्या के लिए यह सुझाव रखा था कि विद्युत की एक अविभाज्य मात्रा (इकाई) होती है। लैमिंग ने तो यहाँ तक कयास लगाया था कि परमाणु में एक केन्द्रीय भाग (कोर) होता है जिसके आसपास कुछ उप-परमाण्विक कण उपस्थित होते हैं जो इकाई विद्युत आवेश के वाहक होते हैं। फैराडे के विद्युत विच्छेदन के नियमों का गहराई से अध्ययन

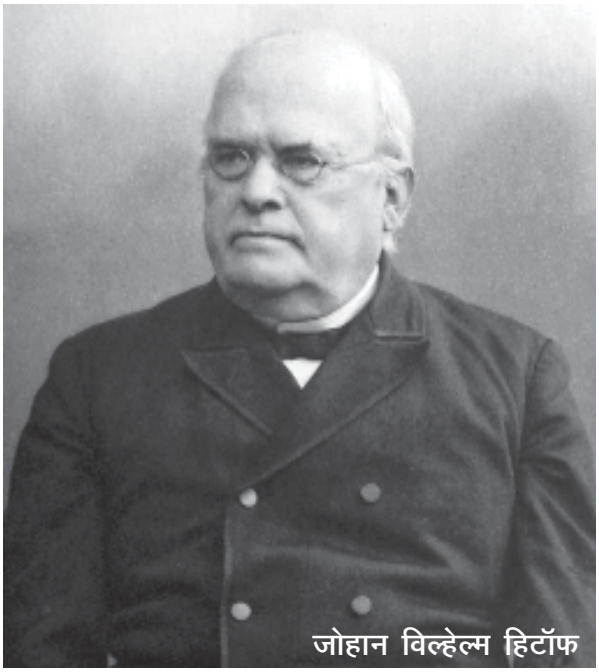
जोहान विल्हेल्म हिटॉफ

करके एक अन्य भौतिक शास्त्री जॉर्ज जॉनस्टोन स्टोनी ने सुझाव दिया था कि विद्युत की एक निश्चित न्यूनतम मात्रा होती है जो एक एक-संयोजी आयन के बराबर होती है। वे इस बुनियादी आवेश के मान का हिसाब लगाने में भी सफल रहे थे। दरअसल, इलेक्ट्रॉन शब्द स्टोनी ने ही 1891 में दिया था। उनके मुताबिक, "विद्युत की इस बुनियादी मात्रा का अनुमान लगाने के बाद मैंने इसे इलेक्ट्रॉन नाम दिया है।"

अलबत्ता इस विचार (विद्युत की परमाणु प्रकृति) को उन्नीसवीं सदी के अन्त तक मान्यता नहीं मिली।

गैस व कैथोड किरणें

तरल पदार्थों की विद्युत चालकता के अध्ययन के बाद नम्बर आया गैसों का। गैसों की चालकता के अध्ययन का तरीका यह था कि किसी नली में गैस को भर लें। नली के एक सिरे पर कैथोड और दूसरे सिरे पर एनोड लगा दें। फिर उन दो इलेक्ट्रोड के बीच ज़ोरदार विभवान्तर पैदा करें और देखें कि क्या होता है। इस प्रयोग के परिणामों का अवलोकन करने के लिए अच्छा होता है कि नली में गैस का दबाव कम हो।

सबसे पहले गैसों की चालकता से सम्बन्धित प्रयोग जर्मन भौतिक शास्त्री जोहान विल्हेल्म हिटॉफ ने किए थे। 1869 में उन्होंने देखा कि जब कम दबाव पर गैस भरी नली में विद्युत प्रवाहित की जाती है तो कैथोड से एक चमक निकलती है। उन्होंने यह भी देखा कि यदि गैस का दबाव और कम किया जाए, तो यह चमक बढ़ती है।

इस चमक की किरणों पर आगे प्रयोग करने पर देखा गया कि यदि इसके रास्ते में कोई चीज़ रख दी जाए तो उसकी छाया बनती है। जर्मन भौतिक शास्त्री यूजेन गोल्डस्टाइन ने इन किरणों को कैथोड किरण नाम दिया।

अब तो कई वैज्ञानिकों की रुचि इन कैथोड किरणों के अध्ययन में पैदा हो चुकी थी। विलियम क्रुक्स ने ऐसी ही कैथोड किरण नली बनाई जिसमें अच्छा खासा निर्वात पैदा किया जा सकता था। इस नली में प्रयोग करके वे यह दर्शाने में सफल रहे थे कि ये किरणें कैथोड से एनोड की ओर जाती हैं और इनमें ऊर्जा होती है। सबसे बड़ी बात तो वे यह दर्शा पाए कि यदि इन किरणों को एक चुम्बकीय क्षेत्र में से गुज़ारा जाए, तो ये अपने मार्ग से विचलित हो जाती हैं। विचलन की दिशा के आधार पर वे यह भी दर्शा पाए थे कि ये किरणें ऋणावेशित होती हैं।

कैथोड किरणों के उपरोक्त गुणधर्मों की व्याख्या के लिए उन्होंने यह माना कि ये किरणें पदार्थ का एक नया रूप हैं - विकिरित पदार्थ। उनके मुताबिक ये किरणें दरअसल ऋणावेशित अणुओं से बनी थीं जो कैथोड में से तेज़ गति

से निकलते हैं।

ऋण आवेश वाले कण - इलेक्ट्रॉन

क्रुक्स ने कैथोड किरणों को चुम्बकीय क्षेत्र में विचलित करके देखा था। एक अन्य वैज्ञानिक आर्थर शूस्टर ने किरणों के मार्ग के दोनों ओर एक-एक धातुई प्लेट लगाई और उन दोनों के बीच विभवान्तर पैदा किया। जब कैथोड किरणें इन प्लेट्स के बीच से गुज़रीं तो वे धनात्मक प्लेट की ओर मुड़ गईं। इससे पक्का हो गया कि कैथोड किरणें ऋणात्मक आवेश वाली हैं। मगर शूस्टर एक कदम आगे बढ़े। विचलन की मात्रा के आधार पर वे किरणों के घटकों के आवेश और द्रव्यमान के अनुपात की गणना कर पाए। मगर उनकी गणनाओं से जो मान निकला वह अपेक्षा से इतना ज़्यादा था कि उनके गणना के तरीके पर ही सवाल उठ गए।

मगर इतना स्पष्ट था कि इन किरणों के घटकों में द्रव्यमान होता है। अर्थात् ये कण हैं। अन्ततः जे.जे. थॉमसन, जॉन टाउनसेंड और एच.ए. विल्सन ने मिलकर 1896 में वे ऐतिहासिक प्रयोग किए जिनकी मदद से इलेक्ट्रॉन की खोज हो पाई।

थॉमसन कुछ निहायत नफीस प्रयोगों और तर्क की मदद से इन कणों के आवेश और द्रव्यमान, दोनों की गणना कर पाए थे। फैराडे के विद्युत विच्छेदन के प्रयोगों से एक बात और स्पष्ट हो चुकी थी। सबसे हल्का आवेशित कण हाइड्रोजन का आयन पाया गया था। जब थॉमसन ने कैथोड किरण कणों (जिन्हें वे कार्पस्कल कहते थे) के द्रव्यमान की गणना की तो पता चला कि ये कार्पस्कल उस सबसे हल्के आवेशित कण से भी करीब 2000 गुना हल्के थे। थॉमसन द्वारा किए गए प्रयोगों का ज़िक्र थोड़ी देर बाद करेंगे। पहले उनके परिणामों और उन परिणामों के आधार पर निकाले गए

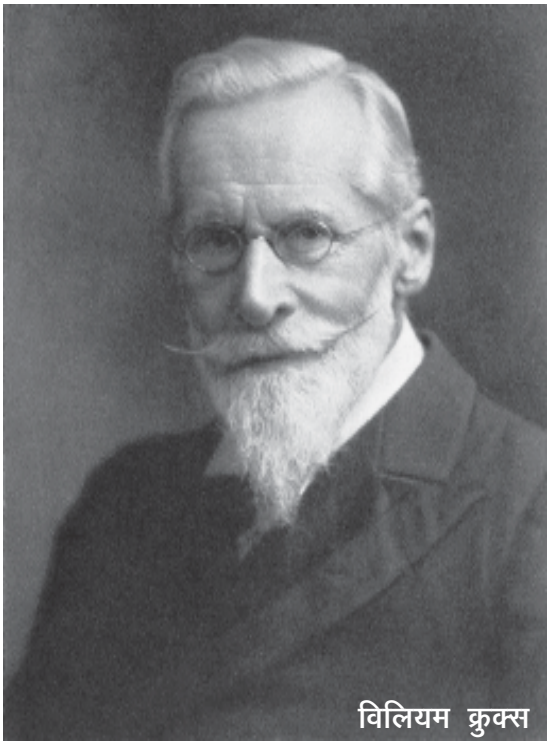

विलियम क्रुक्स

निष्कर्षों को देख लेते हैं।

उन्होंने कैथोड किरण नली (जिसे अब क्रुक्स नलिका कहने लगे थे) में कैथोड बनाने के लिए कई पदार्थों का उपयोग किया था। परिणाम यह रहा कि कैथोड किसी भी पदार्थ का बना हो, कैथोड-कार्पस्कल का आवेश-द्रव्यमान अनुपात वही रहता है। यानी कैथोड-कार्पस्कल कैथोड की सामग्री से स्वतंत्र हैं। यह भी देखा गया कि नलिका में कोई भी गैस भरें, इन कार्पस्कल की प्रकृति (द्रव्यमान-आवेश अनुपात) एक जैसा ही रहता है। इसके आधार पर थॉमसन का निष्कर्ष था कि ये कार्पस्कल किसी भी परमाणु के बुनियादी घटक हैं।

थॉमसन यह भी दर्शा पाए कि रेडियोधर्मी पदार्थों से या पदार्थों को गर्म करने पर या पदार्थों को प्रकाशित करने पर जो ऋणावेशित कण निकलते हैं वे एक जैसे होते हैं। इन कणों को इलेक्ट्रॉन नाम दिया गया।

तो इन विभिन्न प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया कि परमाणु अविभाज्य नहीं बल्कि इसमें इलेक्ट्रॉन नामक कण पाए जाते हैं, जो कुछ परिस्थितियों में अलग हो जाते हैं। इन कणों का आवेश ऋणात्मक और द्रव्यमान सबसे हल्के आयन (हाइड्रोजन आयन) से 2 हज़ार गुना कम पाया गया।

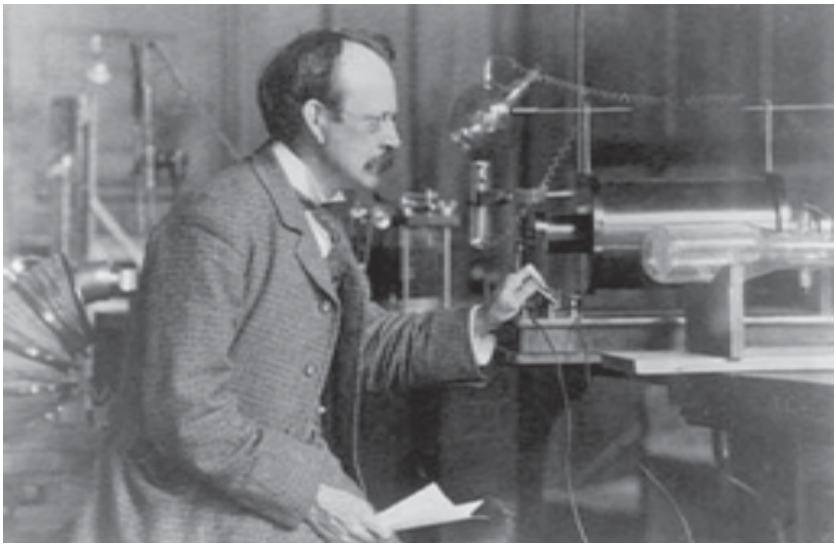

कैथोड ट्यूब से प्रयोगः जे.जे. थॉमसन ने कैथोड किरणों के साथ प्रयोग में मिले अवलोकनों के आधार पर बताया कि कैथोड किरणें ऋणात्मक आवेश वाले कणों से बनी किरणें हैं जो आकार में परमाणु से छोटी हैं। बाद में इन कणों को इलेक्ट्रॉन नाम दिया गया।

यानी थॉमसन के प्रयोगों ने करीब 200 सालों से अविभाज्य माने जा रहे परमाणु को तोड़ दिया था। और ऐसा लग रहा था कि परमाणु स्वयं कुछ कणों से मिलकर बना है और ये कण सारे परमाणुओं में एक जैसे हैं। यानी अब हम परमाणु से उप-परमाण्विक कणों की दुनिया में प्रवेश कर चुके थे।

समस्या यह है कि परमाणु तो विद्युतीय दृष्टि से उदासीन होता है और जो कण उसमें से निकल रहे हैं, वे ऋणावेशित हैं। मतलब यह हुआ कि इन्हें सन्तुलित करने के लिए कोई धनावेश भी होना चाहिए।

ऋण और धन आवेश का मॉडल

1897 में इलेक्ट्रॉन की खोज के बाद थॉमसन ने अटकल का सहारा लिया। धनावेश युक्त कोई कण तो मिला नहीं था। तो थॉमसन ने परमाणु संरचना का जो मॉडल प्रस्तुत किया उसमें उपलब्ध जानकारी का अच्छा समावेश था। उन्होंने कहा कि परमाणु में एक धनावेश का बादल-सा रहता है। और ऋणावेशित कण इस बादल में यहाँ-वहाँ धँसे होते हैं। इसे परमाणु संरचना का तरबूज़ मॉडल कह सकते हैं, वैसे पाठ्य पुस्तकों ने आम तौर पर इसे 'प्लम पुडिंग' मॉडल नाम दिया है। इस मॉडल में तरबूज़ का लाल-लाल हिस्सा तो धनावेश का फैलाव है और जो काले-काले बीज उसमें नज़र आते हैं, वे इलेक्ट्रॉन हैं।

जहाँ एक ओर कैथोड किरणों की खोज हुई, वहीं यूजेन गोल्डस्टाइन ने एक अन्य किरण की खोज कर डाली। 1886 में गोल्डस्टाइन ने कैनाल किरणों की खोज की जिन्हें एनोड किरणें भी कहते हैं। ये कैनाल किरणें भी आवेशित कणों से बनी थीं और गैसों के आयनीकरण से पैदा होती थीं। मगर देखा गया कि अलग-अलग गैसों से उत्पन्न एनोड किरण कणों का आवेश-द्रव्यमान अनुपात अलग-अलग था। अर्थात् इन्हें किसी एक कण से बना नहीं माना जा सकता था, जैसा कि कैथोड किरणों के बारे में मानना सम्भव था।

यदि धनावेशित कण नहीं हैं तो यही एक तरीका हो सकता है जिससे इलेक्ट्रॉन युक्त परमाणु उदासीन रह सकता है। मगर धनावेशित कणों की खोज ज़्यादा दूर नहीं थी। इन्हीं धनावेशित कणों की खोज परमाणु संरचना का अगला कदम होगा।

(...जारी)

सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

धीमे विचार

अतुल गवंडे

पिछले अंक में लेख के पहले भाग में आपने देखा कि दुनियाभर में होने वाले नवाचारों में से कुछ जैसे शल्य क्रिया में निश्चेतक का इस्तेमाल, कितनी तेज़ी से और बड़े स्तर पर फैलते हैं। वहीं संक्रमण मुक्त सर्जरी के विचारों को फैलाने में खासी मशक्कत लगी। आखिर क्या-क्या तरीके थे जो इनके प्रसार के काम आए या राह की मुश्किलें बने? इसी पड़ताल को हम आगे बढ़ा रहे हैं इसके दूसरे भाग में।

व्यवहार परिवर्तन का सबसे आम तरीका है कि लोगों से कहा जाए, "कृपया अमुक काम कीजिए। कृपया नवजात को गर्म रखिए। कृपया अपने हाथ धो लीजिए। कृपया उन सत्ताइस प्रसव क्रियाओं का पालन करें जो आप नहीं कर रहे हैं।" कक्षाओं में, प्रशिक्षण सम्बन्धी वीडियो में और अपने जन जागरूकता अभियानों में हम यही कहते हैं और यह कारगर भी होता है, मगर एक हद तक ही।

जुर्माना या इन्सेंटिव

फिर हमारे पास कानून-और-व्यवस्था का तरीका है - "आपको ऐसा करना होगा।" हम मापदण्ड व नियमन प्रणाली स्थापित करते हैं और असफलता के लिए जुर्माने, निलम्बन और लायसेंस निरस्त करने जैसे डर दिखाते हैं। दण्ड काम कर सकता है। अर्थ-शास्त्रियों ने गणना की है कि लोग जुर्माने को कितना नापसन्द करते हैं। प्रायोगिक खेलों में देखा गया है कि लोग नकारात्मक परिणाम भोगने की बजाय खेल छोड़ देना पसन्द करते हैं। और प्रसव सहायकों को डराकर अनुशासित करने के सन्दर्भ में यही दिक्कत है। वे काफी कठिन परिस्थितियों में ऐसे पदों पर काम कर रहे हैं जिन्हें भरना मुश्किल है। वे छोड़ देंगे।

'आपको ऐसा करना होगा' का ही

एक अपेक्षाकृत नर्मदिल संस्करण है कि जुर्माने की बजाय प्रलोभन (इन्सेंटिव) दिया जाए। उदाहरण के लिए, हरेक स्वस्थ बच्चा जब जीवन का एक सप्ताह पार कर जाए, तो हम प्रसव सहायक को कुछ बोनस दे सकते हैं। परन्तु ज़रा यह सोचिए कि ऐसी योजना को कार्यरूप देना कितना मुश्किल होगा, खासकर घटिया हालातों में। आपको हर मामले की शिनाख्त के लिए एक नफीस प्रक्रिया बनानी होगी अन्यथा लोग इसे ठगते रहेंगे। और एक जटिल सांख्यिकीय गणना करनी होगी ताकि पूर्व-जोखिमों को ध्यान में रखा जा सके। और यह असम्भव सवाल तो है ही कि आप प्रसव में शामिल विभिन्न लोगों के बीच पारितोषिक का बँटवारा कैसे करेंगे। उस सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कितना मिलेगा जिसने प्रसव-पूर्व देखभाल मुहैया करवाई थी? और उस प्रसव सहायक को क्या मिलेगा जिसने प्रसव अवधि के प्रथम 12 घण्टे सम्भाले थे? और वह जो ड्यूटी पर आई और प्रसव करवाया? जब पेचीदगियाँ पैदा हुईं तो जिस डॉक्टर को बुलाया गया था? और वह फार्मेसिस्ट जिसने बच्चे के लिए ज़रूरी सही एंटीबायोटिक स्टोर में रखे थे?

इसके अलावा, जुर्माना या पारितोषिक से वह तो हासिल ही नहीं होता जो हम सचमुच चाहते हैं: एक ऐसी व्यवस्था जहाँ लोग हर समय अमुक-अमुक करते हैं, चाहे कोई देख रहा हो या नहीं। 'आपको करना होगा' सिर्फ अनुपालन को पुरस्कृत करता है। "अमुक वह चीज़ है जो हम करते हैं" तक पहुँचने का मतलब है कि हम उसे एक परिपाटी बना देते हैं। और यही हम चाहते हैं: माँ से सटाकर बच्चे को गर्म रखने, हाथ धोने, और प्रसव के दौरान सारी जीवनरक्षक क्रियाओं को परिपाटियाँ बनाना।

व्यवस्था की बाधाओं को तोड़कर

नई परिपाटियाँ बनाने के लिए आपको लोगों की वर्तमान परिपाटियों को और बदलाव की बाधाओं को समझना होगा। आपको यह समझना होगा कि क्या है जो उनके रास्ते में बाधा बन रहा है। तो क्यों न ऐसा किया जाए कि इसे समझने के लिए एक-एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता के साथ काम किया जाए? बेटर-बर्थ प्रोजेक्ट के तहत हमने सोचा कि क्या होगा यदि हम प्रसव सुधार कार्यकर्ताओं का एक दल नियुक्त करें और ये जाकर प्रसव सहायकों और अस्पताल के मुखियाओं से सम्पर्क करके उन्हें बताएँ कि अनिवार्य कामों की एक सूची का अनुपालन क्यों ज़रूरी है और कैसे किया जा सकता है, यह समझें कि उनकी दिक्कतें व आपत्तियाँ क्या हैं और उनकी मदद करें कि वे चीज़ों को अलग ढंग से कर पाएँ। कहने का मतलब यह कि हम उन्हें परामर्शदाता उपलब्ध करा रहे हैं।

यह प्रयोग अभी चालू ही हो रहा है। प्रोजेक्ट में हम जिन करीब 100

कार्यकर्ताओं को नियुक्त करना चाहते हैं, उनमें से कुछ की ही नियुक्ति हुई है। इन्हें उत्तर प्रदेश के छः क्षेत्रों में प्रायोगिक तौर पर अस्पतालों में भेजा जा रहा है। इसके तहत दो वर्षों में करीब दो लाख प्रसव शामिल होंगे। पक्का नहीं है कि हमारा तरीका सफल होगा मगर कोशिश करने में कोई हर्ज़ नहीं है।

देश-विदेश में जो प्रतिक्रियाएँ सुनी हैं, वे मिली-जुली व दिलचस्प हैं। सबसे सामान्य आपत्ति यह है कि यदि यह विचार कारगर होता है, तो भी इस तरह कार्यस्थल पर एक-एक को मदद देने का तरीका बड़े पैमाने पर लागू नहीं किया जा सकता। मगर सच्चाई यह है कि इसे बड़े पैमाने पर लागू किया जा सकता है। यदि यह हस्तक्षेप हमारी उम्मीद के मुताबिक संख्या में माँओं और बच्चों का जीवन बचाता है - साल भर में लक्षित अस्पतालों में करीब एक हज़ार - तो करना इतना ही होगा कि इसी तरह के प्रसव सुधार कार्यकर्ताओं की नियुक्ति व तैयारी देशभर (शायद दुनियाभर) के अन्य स्थानों के लिए भी की जाए। कई लोगों को यह कोई समाधान नहीं लगता। इसके लिए व्यापक स्तर पर लोगों को तैनात करना, काफी खर्च करना और शायद एक नए व्यवसाय का विकास करना होगा। मगर देखा जाए, तो एंटीसेप्टिक-नुमा समस्याओं के मामले में यही तरीका कारगर रहा है। निश्चेतन विज्ञान की रचना की कल्पना कीजिएः इसका मतलब था कि हर ऑपरेशन के समय डॉक्टरों की संख्या दुगनी करना। हम आगे बढ़े और यही किया। निरक्षरता कम करने के लिए हमारे देश समेत विभिन्न देशों ने स्कूल बनाए, पेशेवर शिक्षक प्रशिक्षित किए और शिक्षा को सब बच्चों के लिए मुफ्त व अनिवार्य बनाया। खेती में सुधार के लिए सरकारों ने कोने-कोने में किसानों से सम्पर्क करने हेतु लाखों कृषि विस्तार अधिकारी भेजे ताकि उन्हें फसल की उपज बढ़ाने के नए तरीके सिखाए जा सकें। ऐसे कार्यक्रम असाधारण रूप से सफल रहे हैं। इनकी मदद से विश्व स्तर पर निरक्षरता कम हुई है - 1970 में जहाँ हर तीन में से एक व्यक्ति निरक्षर था वहीं आज छः में से एक व्यक्ति निरक्षर है। ऐसे ही कार्यक्रम ने हरित क्रान्ति दी है जिसने एक अरब से ज़्यादा लोगों को भुखमरी से बचाया है।

कारगर सतत व्यक्तिगत सम्पर्क

आईफोन, फेसबुक और ट्विटर के ज़माने में हम ऐसे विचारों के प्रचार-प्रसार के आदी हो चले हैं जो हवा के समान फैलते हैं। भूख, बीमारी, गरीबी जैसी दुनिया की बड़ी-बड़ी समस्याओं के सन्दर्भ में हमारी चाहत तो घर्षणरहित 'चाबी घुमाओ' नुमा समाधानों की हो गई है। हम शिक्षक की बजाय शैक्षणिक वीडियो को तरजीह देते हैं, वास्तविक फौज की बजाय ड्रोन विमानों को, संस्थाओं की बजाय प्रलोभनों को तरजीह देते हैं। हो सकता है कि लोग

व संस्थाएँ कालातीत व गड्ड-मड्ड लगें। इंजीनियर्स कहेंगे कि इनकी वजह से अनियंत्रित कारकों का प्रवेश हो जाता है।

मगर टेक्नोलॉजी और प्रलोभन कार्यक्रम पर्याप्त नहीं होते। नए विचारों के सम्प्रेषण और फैलाव का अध्ययन करने के लिए मशहूर एवरेट रॉजर्स कहते हैं कि "विसरण मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें लोग एक-दूसरे से बातें करते हुए नवाचार को फैलाते हैं।" संचार माध्यम लोगों को नए विचार से परिचित तो करा सकते हैं, मगर रॉजर्स ने दर्शाया है कि लोग किसी नए विचार को अपनाने का फैसला उन लोगों को देखकर करते हैं जिन्हें वे जानते हैं और भरोसा करते हैं। हर परिवर्तन के लिए मेहनत लगती है और यह मेहनत करने का निर्णय एक सामाजिक प्रक्रिया है।

इस बात को बिक्री करने वाले लोग भलीभाँति जानते हैं। मैंने एक बार एक मेडिकल रिप्रेज़ेंटेटिव से पूछा था कि वह डॉक्टर को नई दवा अपनाने के लिए कैसे राज़ी करता है जबकि डॉक्टर्स काफी ज़िद्दी होते हैं। उसने बताया कि आपका मामला चाहे जितना सशक्त हो, सिर्फ प्रमाणों से काम नहीं चलता। आपको 'सात सम्पर्क का नियम' लागू करना होता है। आप डॉक्टर्स को सात बार निजी तौर पर 'सम्पर्क' कीजिए और वे आपको जानने लगेंगे, और शायद आप पर भरोसा करने लगें। यदि वे आप पर भरोसा करते हैं, तो वे बदलेंगे। इसीलिए वह रिप्रेज़ेंटेटिव अपने हाथों से डॉक्टर की अलमारी को मुफ्त दवा सैम्पल्स से भर देता था। तब वह अलमारी के कोने में झाँकते-झाँकते पूछ सकता था, "तो आपकी बीटिया डेबी का सॉकर का गेम कैसा रहा?" अन्ततः वह इस सवाल पर आ सकता है, "क्या आपने हमारी नई दवा पर यह अध्ययन देखा है? इसे आज़माकर क्यों नहीं देखते?" जैसा कि इस रिप्रेज़ेंटेटिव ने देखा, विरोध से पार पाने और बदलाव को फैलाने में मानवीय आदान-प्रदान मुख्य शक्ति होती है।

जीवन रक्षक घोल – प्रचार की दिक्कतें

1968 में *दी लैंसेट* ने एक ट्रायल के परिणाम प्रकाशित किए थे। इसमें बीसवीं सदी की एक सबसे महत्वपूर्ण मानी जाने वाली चिकित्सा उपलब्धि पर विचार किया गया था। यह कोई नई दवा या टीका या ऑपरेशन नहीं था। यह था शक्कर, नमक और पानी

का घोल जिसे आप अपने किचन में बना सकते हैं। शोधकर्ताओं ने यह घोल ढाका में हैज़ा महामारी के कुछ पीड़ितों को दिया। परिणाम चौंकाने वाले थे।

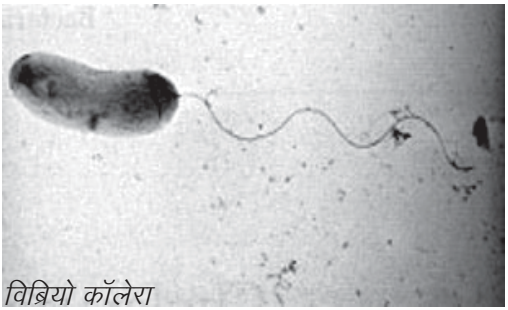
विब्रियो कॉलेरा

हैज़ा एक उग्र व जानलेवा दस्तनुमा रोग है। यह *विब्रियो कॉलेरा* नामक बैक्टीरिया के कारण होता है। मरीज़ के शरीर में यह बैक्टीरिया सन्दूषित पानी के साथ पहुँचता है। बैक्टीरिया एक विष का स्राव करता है जिसकी वजह से आँतों में तरल का भयानक स्राव शुरू हो जाता है। हमारा शरीर 60 प्रतिशत पानी है और इस पानी को शरीर में से किसी स्पंज की तरह निचोड़ा जाने लगता है। बाहर निकलने वाला तरल दूधिया-सा होता है, चावल धोने पर निकले पानी जैसा। इसके कारण उल्टी और दस्त शुरू हो जाते हैं। बच्चों के शरीर में से एक-तिहाई पानी 24 घण्टों के अन्दर निकल जाता है। इतना पानी निकलना जानलेवा हो सकता है। तरल की जो हानि होती है उसकी पूर्ति के लिए पानी पीना कारगर नहीं होता क्योंकि आँतें उसे सोख नहीं सकतीं। नतीजतन मृत्यु दर 70 प्रतिशत या उससे भी ज़्यादा हो जाती है। उन्नीसवीं सदी के दौरान हैज़ा की महामारियाँ एशिया, अफ्रीका और उत्तरी अमेरिका में लाखों जान ले लेती थीं। इस बीमारी को नीली मौत भी कहते थे क्योंकि भयानक निर्जलन (पानी की कमी) के चलते मरीज़ की चमड़ी का रंग भूरा-नीला हो जाता था।

1906 में इसका एक आंशिक रूप से कारगर इलाज ढूँढ़ लिया गया था: इंट्रावीनस तरल घोल की मदद से मृत्यु दर घटकर 30 प्रतिशत रह गई। रोकथाम सबसे प्रभावी तरीका था। आधुनिक मल-जल तंत्र और जलशोधन ने इस बीमारी को सम्पन्न देशों से विदा कर दिया। फिर भी विश्व स्तर पर हर साल लाखों लोग दस्त सम्बन्धी बीमारियों से मरते रहे। यदि मरीज़ किसी चिकित्सा संस्थान तक पहुँच जाए, तो भी सुइयाँ, प्लास्टिक नलियाँ और इंट्रावीनस तरल का लीटरों घोल बहुत महँगे होते थे और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होते थे। इसके अलावा यह इलाज चिकित्सा कर्मियों पर निर्भर था जो हमेशा दुर्लभ होते थे, खास तौर से महामारी के समय जब हज़ारों मरीज़ों की भीड़ हो।

फिर 1960 के दशक में वैज्ञानिकों ने यह खोजा कि शक्कर की उपस्थिति में तरल के अवशोषण में मदद मिलती है। दो अमेरिकी शोधकर्ता डेविड नलिन

हैज़ा से पीड़ित लोग

जीवन रक्षक घोल

और रिचर्ड कैश एक हैज़ा प्रकोप के समय ढाका में थे। उन्होंने वैज्ञानिक खोज को आज़माने के लिए मरीज़ों को मुँह से पुनर्जलन घोल देने का निर्णय किया जिसमें शकर और नमक, दोनों थे। कई लोगों को शंका थी कि मरीज़ तरल की क्षति की भरपाई करने के लिए ज़रूरी मात्रा में यह घोल पी पाएँगे, जो आम तौर पर प्रतिदिन 10 से 20 लीटर तक पीना पड़ता था। लिहाज़ा, शोधकर्ताओं ने ढाका परीक्षण को 29 मरीज़ों तक सीमित रखा। इन मरीज़ों को इतना घोल पीने में कोई दिक्कत नहीं हुई जिससे उन्हें इंट्रावीनस घोल की ज़रूरत कम पड़ी या बिलकुल भी नहीं पड़ी। इनमें से किसी की मृत्यु नहीं हुई।

तीन साल बाद 1971 में दिलीप महलनबीस नाम के एक चिकित्सक पश्चिम बंगाल में बांग्लादेश के स्वतंत्रता युद्ध के साढ़े तीन लाख शरणार्थियों के एक शिविर में चिकित्सा सहायता का मार्गदर्शन कर रहे थे। इसी समय हैज़ा फूट पड़ा। इंट्रावीनस घोल का भण्डार चुक गया। महलनबीस ने अपनी टीम को ढाका घोल आज़माने का आदेश दिया। मात्र 3.6 प्रतिशत मरीज़ों की मृत्यु हुई, जबकि आम तौर पर 30 प्रतिशत मरीज़ मारे जाते थे। दरअसल, यह घोल इंट्रावीनस तरल से बेहतर था। यदि हैज़ा के मरीज़ सजग हों, घोल पी सकें और घोल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जा सके, तो लगभग हर मामले में जान बचाई जा सकती है।

जब इन परिणामों का प्रचार-प्रसार हुआ तो उम्मीद की जानी चाहिए थी कि लोग इस तकनीक के दीवाने हो जाएँगे। मुँह से पिलाया जाने वाला पुनर्जलन घोल तो अमृत समान थाः एक भयानक, तात्कालिक समस्या के लिए जादुई इलाज। मगर इसका फैलाव नहीं हुआ।

इसे समझने के लिए आपको कल्पना करनी होगी कि आपका एक बच्चा है जो उल्टियाँ कर रहा है, दस्त से बेहाल है, जैसा कि आपने पहले कभी नहीं देखा था। लगता है कुछ भी पिलाएँगे तो और उल्टी होगी। उल्टी व दस्त का पीछा करना एक यातना भी लगता है और फालतू भी। अधिकांश लोगों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है कि बच्चे को कुछ न खिलाएँ। और यह मानने का भी तो कोई कारण नहीं कि शक्कर और नमक का यह खास मिश्रण साधारण पानी या किसी भी अन्य चीज़ से भिन्न होगा। और वाकई यह खास होता है। नमक की सान्द्रता में एकाध चम्मच की चूक हो जाए, तो इलेक्ट्रोलाइट असन्तुलन खतरनाक हो सकता है। बच्ची को अच्छा लगने लगे उसके बाद भी इसे पीते रहना होता है, जब तक कि दस्त पूरी तरह रुक न जाएँ। हो सकता है इसमें पाँच दिन लगें। नर्सों को ही प्रायः ये बातें ठीक से समझ नहीं आईं, तो गाँववाले कैसे बेहतर करते?

इस ज़बर्दस्त खोज के एक दशक बाद तक यह विचार आगे नहीं बढ़ा। ज़्यादा कुछ बदला नहीं था। दस्त सम्बन्धी रोग पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों के सबसे जानलेवा रोग बने हुए थे।

व्यक्ति-दर-व्यक्ति मुलाकात

अलबत्ता, 1980 के दशक में एक बांग्लादेशी गैर-मुनाफा संगठन बीआरएसी ने मौखिक पुनर्जलन उपचार (मुँह से पिलाए जाने वाले पुनर्जलन घोल पर आधारित उपचार) को राष्ट्रव्यापी स्वीकृति दिलवाने की ठानी। इस अभियान के लिए अधिकांशतः निरक्षर आबादी तक पहुँचना ज़रूरी था। इसके पहले जो सरकारी अभियान चला था - परिवार नियोजन सिखाने के लिए - वह बहुत अलोकप्रिय रहा था। अभियान के ज़रिए जो सन्देश दिए जाने थे, वे पेचीदा थे।

बहरहाल, अभियान काफी सफल रहा। इस अभियान की कहानी बांग्लादेश में प्रकाशित एक सुन्दर किताब 'ए सिंपल सॉल्यूशन' में बताई गई है। संगठन ने संचार माध्यमों के ज़रिए अभियान नहीं छेड़ा। मात्र 20 प्रतिशत आबादी के पास ही तो रेडियो थे।

दिलीप महलनबीस

संगठन ने समस्या पर आक्रमण जिस तरीके से किया उसे अक्सर अव्यावहारिक और अकार्यक्षम बताकर खारिज कर दिया जाता है - घर-घर जाकर, व्यक्ति-दर-व्यक्ति मुलाकात करना और बस बातचीत करना।

अभियान एक पायलट प्रोजेक्ट के रूप में शुरू हुआ था जिसके तहत 600 गाँवों में लगभग 60 हज़ार महिलाओं से बातचीत करना तय किया गया था। व्यावहारिक दिक्कतें डराने वाली थीं। मसलन, पढ़ाने का काम कौन करेगा? ये कार्यकर्ता यात्रा कैसे करेंगे? उनकी सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाएगी? बीआरएसी के नेतृत्व ने यथासम्भव बढ़िया योजना बनाई और फिर रास्ते में फेरबदल करते गए। उन्होंने चौदह युवा महिलाओं, एक रसोइए और एक पुरुष निरीक्षक के समूह गठित किए। सोच यह थी कि यात्रा के दौरान निरीक्षक उन्हें अन्य लोगों से सुरक्षा प्रदान करेगा जबकि महिलाओं की संख्या उन्हें निरीक्षक से सुरक्षा प्रदान करेगी। वे पैदल यात्रा करते, हर गाँव के निकट तम्बू गाड़ते, फिर घर-घर जाते और तब तक वहाँ रुकते जब तक कि हर झोंपड़ी की महिला से बात न कर लें। वे सुबह से रात तक सप्ताह में छः दिन काम करते। रात को खाने के बाद वे बैठक करते कि उस दिन क्या ठीक-ठाक रहा और क्या ठीक नहीं रहा और बेहतर करने के लिए विचारों का आदान-प्रदान करते। नेता भी समय-समय

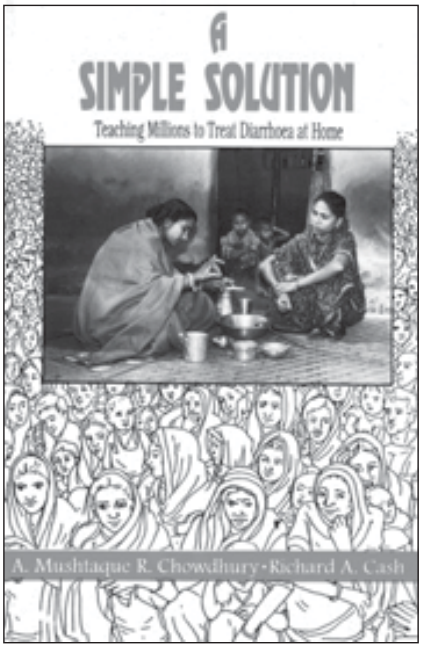

पर उन्हें सम्बोधित करते थे।

मुँह ज़ुबानी सन्देश

कार्यकर्ता अर्ध-साक्षर थे, मगर उन्होंने अपनी बात के सार को सात आसानी से याद हो जाने वाले सन्देशों में बुना था। मसलन, गम्भीर दस्त निर्जलन के कारण मौत का कारण बनता है; निर्जलन के लक्षणों में जीभ का सूखना, आँखों का धँसना, प्यास लगना, घोर कमज़ोरी, और पेशाब कम होना शामिल हैं; निर्जलन के इलाज का तरीका है कि दस्त के साथ शरीर से निकल गए पानी व लवणों की क्षतिपूर्ति करना; और मुँह से पिलाने का पुनर्जलन घोल ऐसा करने का सबसे कारगर तरीका है। बीआरएसी

के वैज्ञानिकों ने यह निर्धारित किया कि कार्यकर्ता घोल बनाने की विधि कैसे सिखाएँगे। गाँववासियों के पास मापन के सटीक उपकरण तो थे नहीं - चम्मच स्थानीय स्तर पर बनाए जाते थे और इनका आकार गैर-मानक होता था। नेतृत्व ने विचार किया कि माप के लिए ऐसे चम्मच हो सकते हैं जिनके हत्थे पर घोल बनाने की विधि लिखी हो। मगर ये महँगे होंगे; अधिकांश लोग विधि पढ़ नहीं सकते; और खो जाने पर चम्मच की क्षतिपूर्ति कैसे होगी? अन्ततः टीम ने उँगलियों से नापने का विचार खोज लियाः मुट्ठी भर शक्कर और तीन उँगलियों से बनी चुटकी भर नमक को आधा सेर पानी में घोला जाए। परीक्षणों से पता चला कि महिलाएँ यह घोल काफी सही बना लेती हैं।

शुरुआत में कार्यकर्ता प्रतिदिन 20 माँओं को सिखाती थीं। मगर गाँव जाने वाले मॉनीटर्स ने पाया कि इतने बड़े पैमाने पर करने से शिक्षण की गुणवत्ता का नुकसान हो रहा है। लिहाज़ा, कार्यकर्ताओं को प्रतिदिन 10 परिवारों तक सीमित रहने को कहा गया। इसके बाद कार्यकर्ताओं को भुगतान के लिए नई वेतन संरचना इस आधार पर निर्धारित की गई कि जब मॉनीटर गाँव पहुँचे तो माँओं को कितने सन्देश याद रहे हैं।

शिक्षण की गुणवत्ता काफी बेहतर हो गई। मैदानी कार्यकर्ताओं ने जल्दी ही यह समझ लिया कि घोल बनाकर दिखाने से बेहतर होता है कि माँएँ स्वयं वह घोल बनाकर देखें। कार्यकर्ता गाँव पहुँचकर दस्त के मामले खोजने लगे थे ताकि उनका इलाज करके यह दिखा सकें कि यह उपचार कितना कारगर व सुरक्षित है। वैज्ञानिकों ने उन प्रश्नों पर गौर किया जो उठते रहते थे। जैसे, क्या साफ पानी ज़रूरी है? (उन्होंने पाया कि हालाँकि उबला हुआ पानी बेहतर है मगर कुछ न देने से तो बेहतर है कि सन्दूषित पानी दे दिया जाए।)

शुरुआती संकेत आशाजनक थे। ऐसा लग रहा था कि माँएँ मुख्य सन्देशों को याद रख पाती थीं। उनके द्वारा बनाए गए शक्कर के घोल के विश्लेषण से पता चला कि लगभग तीन-चौथाई माँएँ ठीक से घोल बना पाती थीं। एक हज़ार में से मात्र चार के घोल में नमक की असुरक्षित मात्रा पाई गई। अतः बीआरएसी और बांग्लादेश सरकार ने इस कार्यक्रम को राष्ट्र स्तर पर उठाया। उन्होंने हर क्षेत्र में हज़ारों कार्यकर्ता नियुक्त करके उन्हें प्रशिक्षित किया। ज़ाहिर है, यह प्रयास एकदम उत्कृष्ट नहीं था। मगर 75000 से ज़्यादा गाँवों में घर-घर जाकर उन्होंने करीब सवा करोड़ परिवारों को समझाया कि अपने बच्चों की जान कैसे बचाएँ।

लगता तो था कि कार्यक्रम सफल रहा है। मुँह से पिलाए जाने वाले पुनर्जलन घोल का उपयोग खूब बढ़ गया। यह जानकारी खुद-ब-खुद फैलने लगी। कार्यक्रम ने परिपाटियों को बदल

दिया था।

जनहित विज्ञापनों द्वारा

एक प्रशिक्षक द्वारा अपनी देखरेख व मार्गदर्शन में गाँववासियों को अपने हाथों से घोल बनाने को तैयार करना और उनके ही शब्दों में सन्देश कहलवाना किसी भी जनहित विज्ञापन या शैक्षणिक वीडियो से ज़्यादा प्रभावी साबित हुआ। आगे चलकर इन बदलावों को टेलीविज़न व रेडियो की मदद से जारी रखा जा सका। और माँग बढ़ने पर मौखिक पुनर्जलन लवण पैकेट्स का पुख्ता बाज़ार विकसित हुआ। तीन दशक बाद किए गए राष्ट्रीय सर्वेक्षणों से पता चला कि गम्भीर दस्त से ग्रस्त 90 प्रतिशत बच्चों को यह घोल पिलाया जाता है। 1980 और 2005 के दरम्यान दस्त से होने वाली बच्चों की मृत्यु-दर में 80 प्रतिशत से ज़्यादा की कमी आई।

जब अन्य देशों ने बांग्लादेश का तरीका अपनाया तो विश्व स्तर पर दस्त सम्बन्धी मौतें 50 लाख प्रति वर्ष से घटकर 20 लाख प्रति वर्ष रह गईं, जबकि पिछले तीन दशकों में विश्व की जनसंख्या में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

बहरहाल, विकासशील देशों में मात्र एक-तिहाई बच्चों को मौखिक पुनर्जलन चिकित्सा प्राप्त हो पाती है। कुछ देशों ने इस कार्यक्रम को अधमने ढंग से लागू किया। जैसा कि गेट्स फाउंडेशन और वॉशिंग्टन विश्वविद्यालय ने दर्ज़ किया है, ये देश पूरी तरह नाकाम रहे हैं। लोगों की आपसी बातचीत आज भी वह तरीका है जिससे दुनिया के मानक बदलते हैं।

अन्ततः उन्नीसवीं सदी के अन्त में सर्जन्स ने अपने एंटीसेप्टिक मापदण्ड बदले। मगर जैसा कि नए विचारों के साथ अक्सर होता है, किसी ने सोचा भी नहीं था कि इस प्रयास के लिए कितने गहरे बदलावों की ज़रूरत थी। अपने रक्त-रंजित, अंगों के टुकड़े चिपके हुए काले कोट वाले सर्जन्स खुद को ऐसे योद्धा मानते थे जो अपने लगभग खाली हाथों से खूनी युद्ध लड़ते हैं। अलबत्ता, कुछ जर्मन सर्जन्स को यह विचार भा गया कि सर्जन्स वैज्ञानिक हैं। उन्होंने अपने काले कोट फेंककर प्रयोगशाला के झक सफेद कोट अपनाए, अपने ऑपरेशन कक्ष को नए सिरे से ढाला ताकि वहाँ किसी बैक्टीरिया-विज्ञान की प्रयोगशाला के स्तर का निर्जीवीकृत वातावरण पैदा किया जा सके, और रफ्तार की बजाय शरीर रचना विज्ञान की सटीकता को तरजीह दी।

पता यह चला कि सर्जन्स को जो प्रमुख सन्देश दिया जाना था वह यह नहीं था कि कीटाणुओं को कैसे रोकें, बल्कि यह था कि वे एक प्रयोगशाला वैज्ञानिक के रूप में कैसे सोचें। अमेरिका व अन्य जगहों के जो चिकित्सक जर्मनी में वहाँ के प्रतिष्ठित सर्जन्स के साथ अध्ययन करने को गए वे उनकी सोच और मापदण्डों के कायल होकर लौटे।

ऑपरेशन के दौरान सर्जन्स का पहनावा

लौटकर वे न सिर्फ (कीटाणुओं को मारने के) एंटीसेप्टिक तौर-तरीकों के उपदेशक बने बल्कि एसेप्टिक तौर-तरीकों (कीटाणुओं की रोकथाम) के कहीं ज़्यादा श्रमसाध्य मापदण्डों के समर्थक बने। जैसे निर्जीवीकृत दस्ताने, गाउन, टोपी और नकाब पहनना। अपने छात्रों और सहकर्मियों को बदलते हुए उन्होंने अन्ततः इन विचारों को पूरी दुनिया में फैला दिया।

तौर-तरीकों में बदलाव

प्रसव के मामले में हमने अभी स्वीकार करना शुरू ही किया है कि महत्वपूर्ण तौर-तरीके अपने-आप नहीं फैलने वाले। मात्र 'जागरूकता' से कुछ नहीं होगा। हमें अपने मार्केटिंग दल और सात आसानी से याद होने वाले सन्देशों की ज़रूरत है। दुनिया में कई जगहों पर व्यक्ति-से-व्यक्ति प्रयासों के ज़रिए परिपाटियाँ बदलने का काम चल रहा है।

मैंने हाल ही में भारत में बेटर-बर्थ के कार्यकर्ताओं से पूछा था कि क्या उन्होंने किसी प्रसव सहायक को अपने तौर-तरीके बदलते देखा है। उन्होंने कहा कि हाँ, मगर इसमें थोड़ा समय लगता है। उन्होंने पहले प्रसव सहायकों और अस्पताल के मुखियाओं को प्रसव के दौरान अनुपालन के तौर-तरीकों की सूची का प्रशिक्षण दिया। फिर वे मौके पर जाते हैं जब प्रसव सहायक इन बातों को लागू करने की कोशिश करते हैं।

गोल-मटोल चेहरे वाली चौबीस वर्षीय सिस्टर सीमा यादव एक प्रशिक्षु थी। उसे नर्सिंग स्कूल से निकले 3 साल हुए हैं। उसकी पहली नियुक्ति एक तीस-वर्षीय नर्स का अवलोकन करने की थी जो कहीं ज़्यादा अनुभवी थी। नर्स जब एक महिला को प्रसव और शिशु-जन्म में मदद कर रही थी तो उसने देखा कि प्रशिक्षण का कितना कम हिस्सा आत्मसात किया गया था। कमरे को संक्रमण-मुक्त नहीं किया गया था, पिछले शिशु-जन्म का खून वहीं एक बाल्टी में पड़ा था। जब महिला आई तो मरोड़ें बढ़ रही थीं और वह कराह रही थी। तब नर्स ने उसके महत्वपूर्ण लक्षणों (vital signs) की जाँच नहीं की। उसने अपने हाथ नहीं धोए। उसने आपातकालीन साज़ो-सामान की कोई तैयारी नहीं की थी। प्रसव के बाद उसने शिशु का तापमान जाँचा मगर हाथ से, थर्मामीटर से नहीं। शिशु को महिला से सटाकर गर्म रखने की बजाय उसने

बच्चा रिश्तेदारों को सौंप दिया।

जब सिस्टर सीमा ने उसे प्रशिक्षण और वास्तविक काम के बीच अन्तर के बारे में बताया तो नर्स घबरा गई। उसने विभिन्न चूकों के लिए कई कारण गिनाए - वक्त नहीं था, कई प्रसव करवाने पड़ते हैं, थर्मामीटर पास में होता ही नहीं, सफाईकर्मी कभी अपना काम नहीं करते। सिस्टर सीमा खुशनुमा है, उत्साही है और तेज़ी से बोलती है। वह नर्स को लेकर सफाईकर्मी के पास गई और उसे समझाया कि दो प्रसव के बीच कमरे की सफाई क्यों ज़रूरी है। वे प्रभारी चिकित्सा अधिकारी के पास गईं और उनसे एक थर्मामीटर मुहैया कराने को कहा। सिस्टर सीमा के दूसरे व तीसरे दौरे के समय विसंक्रमण कहीं बेहतर था। थर्मामीटर अलमारी में रखा मिला। मगर नर्स ने अपना अधिकांश ढर्रा नहीं बदला था।

चौथे-पाँचवे दौरे तक उनकी बातचीत का विषय परिवर्तन हो चुका था। वे साथ में चाय पीती थीं और बातें करती थीं कि चाहे आप दस्ताने पहनो मगर हाथ धोना क्यों ज़रूरी है (क्योंकि दस्तानों में छेद हो सकते हैं और हमारी आदत होती है कि दस्ताने पहने बगैर उपकरणों को छूते रहते हैं) और क्यों ब्लड प्रेशर नापने का महत्व है (क्योंकि उच्च रक्तचाप एक्लेम्पसिया का लक्षण है, जिसका इलाज न किया जाए तो जच्चा की जान जा सकती है)। उन्होंने एक-दूसरे को भी थोड़ा जाना। पता चला कि दोनों का एक-

एक बच्चा है - सिस्टर सीमा को चार साल का लड़का है और नर्स की 8 साल की लड़की है। नर्स राजधानी में रहती है जहाँ से आने में बस में दो घण्टे लगते हैं। वह तलाकशुदा है और अपनी माँ के साथ रहती है और आने-जाने में जूझती है। उसे इस बात का मलाल है कि शहर के किसी अस्पताल में नियुक्ति नहीं मिली। वह कई-कई दिनों तक बगैर छुट्टी लिए काम करती है और फुरसत मिलने पर वहीं एक खाट पर सो जाती है। सिस्टर सीमा ने हमदर्दी दिखाई और अपने परिवार व अपनी उम्मीदों की बात की। कुछ समय में नर्स को समझ में आ गया कि सिस्टर सीमा वहाँ सिर्फ मदद करने और उनके अनुभव से कुछ सीखने को आई है। इसके बाद उन्होंने एक-दूसरे को मोबाइल फोन नम्बर दे दिए और मुलाकातों के बीच में भी बातें किया करती थीं। जब सिस्टर सीमा के पास किसी सवाल का जवाब नहीं होता, तो वह कहीं से पता करती थी।

उसने बताया कि जल्दी ही नर्स में बदलाव आया। कई दौरों के बाद वह तापमान और ब्लड प्रेशर ठीक से लेने

लगी। हाथ धोने लगी और ज़रूरी दवाइयाँ देने लगी। सिस्टर सीमा ने यह सब अपनी आँखों से देखा।

इसके बाद उसे किसी अन्य पायलट स्थल पर जाना पड़ा। हालाँकि, प्रोजेक्ट माँओं और नवजात शिशुओं की स्थिति पर निगरानी रखे हुए है मगर काफी संख्या हो जाने के बाद ही यह पता चल सकेगा कि क्या कुछ फर्क पड़ा है। तो मैंने नर्स का फोन नम्बर ले लिया और एक दुभाषिए की मदद से उसे फोन किया।

यह सिस्टर सीमा के दौरे खत्म हो जाने के चार महीने बाद की बात है। मैंने पूछा कि क्या उसने कुछ परिवर्तन किए हैं। उसने कहा, "बहुत सारे।"

मैंने पूछा, "सबसे मुश्किल कौन-सा था?"

उसने बताया, "हाथ धोना। मुझे कई बार हाथ धोना पड़ता है।"

"और कौन-सा सबसे आसान था?"

"शारीरिक लक्षणों को ठीक से जाँचना।" उसने बताया कि "पहले हम यह काम बेतरतीबी से करते थे और बाद में हर चीज़ व्यवस्थित हो गई।"

उसने बताया कि आखिर उसे असर दिखने लगा है। प्रसव के बाद रक्तस्राव कम हो गया है। वह दिक्कत को जल्दी पहचानने लगी है। उसने एक बच्ची को बचा लिया जिसे साँस नहीं आ रही थी। उसने एक माँ में एक्लेम्पसिया का निदान करके उपचार किया। ये कहानी सुनाते हुए उसकी आवाज़ में गर्व साफ झलक रहा था।

उसने बताया कि कई परिवर्तनों के लिए उसे अभ्यास करना पड़ा था। जैसे उसे यह सीखना पड़ा था कि कैसे सारी ज़रूरी चीज़ों - ब्लड प्रेशर का पट्टा, थर्मामीटर, साबुन, साफ दस्ताने, शिशु के साँस लेने के लिए नकाब, दवाइयाँ वगैरह - को सजाकर रखे ताकि ज़रूरत पड़ने पर मिल जाएँ; कि कैसे इन चीज़ों के उपयोग को अपने दैनिक काम में शामिल करे; कि कैसे माँ और उसके रिश्तेदारों को यकीन दिलाए कि बच्चे के लिए सबसे अच्छा यह होता है कि उसे माँ से सटाकर ही सुलाया जाए। सिस्टर सीमा ने उसे इस सब में कदम-दर-कदम मदद की। "उसने मुझे दिखाया कि चीज़ों को व्यावहारिक तौर पर कैसे करें।" मैंने पूछा, "आपने उसकी बातें सुनी क्यों? उसके पास तो आपके मुकाबले कोई अनुभव नहीं था।"

उसने कबूल किया कि शुरू में वह नहीं सुनती थी। "पहले दिन जब वह आई थी, तो मुझे लगा कि मेरा काम का बोझ बढ़ रहा है।" अलबत्ता दूसरी बार से नर्स को सिस्टर सीमा का आना अच्छा लगने लगा। वह उसका इन्तज़ार करने लगी।

मैंने पूछा, "क्यों?"

नर्स बस इतना कह पाई, "क्योंकि वह अच्छी थी।"

"वह अच्छी थी?"

"वह मुस्कराती रहती थी।"

"बस इतना ही?"

"उससे बातें करना ऐसा नहीं लगता कि कोई आपकी गलतियाँ ढूँढ़ रहा है। ऐसा लगता था कि दोस्त से बात कर रही हूँ।"

मेरे ख्याल में जवाब यही था। उसके बाद से नर्स ने यह समझाने का अपना तरीका विकसित कर लिया है कि नवजात को त्वचा-से-त्वचा सम्पर्क द्वारा गर्म कैसे रखें। वह बताती है कि अब वह परिवारों को समझाती है, "बच्चादानी के अन्दर बच्चा खूब गर्म रहता है। तो जब बच्चा बाहर आता है तो उसे गर्म रखना चाहिए। माँ की त्वचा यही करती है।"

मुझे यह समझ नहीं आ रहा था कि क्या वह मुझे वही बता रही है जो मैं सुनना चाहता हूँ। मगर जब मैंने यह सुना कि वह अपनी सीखी हुई बातों को अपने शब्दों में किस तरह कहती है, तो मैं समझ गया कि विचार फैल गए हैं। "क्या परिवार वाले सुनते हैं?"

उसने बताया, "कभी-कभी नहीं सुनते। अक्सर सुनते हैं।"

अतुल गवंडे: सर्जन, लेखक और लोक स्वास्थ्य में शोध करते हैं। अमेरिका के बॉस्टन शहर में ब्रिघम एण्ड विमेन्स हॉस्पिटल में सामान्य और अन्तःस्त्रावी सर्जरी का काम करते हैं। हार्वर्ड स्कूल ऑफ पब्लिक हैल्थ और हार्वर्ड मेडिकल स्कूल में प्रोफेसर भी हैं। वे एक गैर-सरकारी, लाभ-निरपेक्ष संस्था के ज़रिए दुनियाभर में ऐसे सिस्टम और तकनीकों को क्रियान्वित करने की कोशिश में लगे हैं जिनसे सर्जरी के कारण मौत को कम किया जा सके। 1998 से 'न्यू यॉर्कर' पत्रिका के लिए स्वास्थ्य और चिकित्सा पर लिखते आए हैं और तीन किताबों के लेखक भी हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

यह लेख 29 जुलाई, 2013 के 'न्यू यॉर्कर' पत्रिका में लेखक के ऐनल्स ऑफ मेडिसिन कॉलम से साभार।

पाठ्यक्रम का देसीकरण
बैगा विद्या द्वारा प्रस्तुत सवाल

पद्मा सारंगपाणी

बैगा एक जनजाति है जो मध्य भारत में निवास करती है। ये लोग जंगलों व चिकित्सा के बारे में अपने व्यापक ज्ञान के लिए मशहूर हैं। इस ज्ञान को जानकार प्रेक्टिशनर (गुरु) द्वारा अपने चेलों या नौसिखियों को हस्तान्तरित करने के लिए स्थानीय शैक्षिक परम्परा है। ज्ञान प्रणाली स्थानीय और मौखिक है। इस ज्ञान के हस्तान्तरण को सहारा देने वाली शैक्षिक परम्परा और समाजीकरण में भी ये गुण झलकते हैं और इन पर इस बात का भी प्रभाव है कि उत्पादन जीवन-निर्वाह स्तर का है तथा जनजाति के संगठन में या बच्चों के जीवन में कोई केन्द्रीकृत अथॉरिटी नहीं है। इस परचे में इस खूबी और औपचारिक स्कूली शिक्षा के बीच

अलगाव की पड़ताल की गई है। गौरतलब है कि औपचारिक स्कूली शिक्षा की शिक्षण विधि और पाठ्यक्रम में एक साक्षर परम्परा को मानकर चला जाता है, जहाँ ज्ञान को सन्दर्भ से मुक्त पाठ्य वस्तु में प्रस्तुत किया जाता है और बच्चे पहले से ही एक केन्द्रीकृत शैक्षिक/वयस्क अथॉरिटी को स्वीकार करने के लिए तैयार होकर आते हैं। वर्तमान भारतीय सन्दर्भ में, जब स्कूली पाठ्यक्रम में देशज ज्ञान को शामिल करने पर ज़ोर दिया जा रहा है, यह परचा ऐसे समावेश की ज्ञानशास्त्रीय व्यावहारिकता पर सवाल खड़े करता है। दो भागों की ृंखला के इस पहले भाग में पढ़ते हैं कवर्धा के बैगा लोगों के समाज, संस्कृति और औपचारिक स्कूली व्यवस्था के बारे में।

बैगा मध्य-भारत के वन क्षेत्र में रहने वाली एक जनजाति है। इस परचे में औपचारिक स्कूली पाठ्यक्रम और बैगा लोगों के स्थानीय/देशज ज्ञान व शैक्षिक परम्परा के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा की गई है। मेरी रुचि बैगा ज्ञान परम्पराओं और औपचारिक स्कूल संस्था की परम्पराओं व तौर-तरीकों के बीच निरन्तरताओं व अनिरन्तरताओं के महत्व व सम्भावनाओं में है। परचे में समकालीन सरोकार के दो मुद्दों पर विचार किया गया हैः पाठ्यक्रम अध्ययनों में स्कूल बनाम घर के विभाजन का मुद्दा और वर्तमान भारतीय स्कूली पाठ्यक्रम नीति में देशज ज्ञान के समावेश का मुद्दा।

स्कूल और जिस दुनिया, बच्चे के घर और समुदाय की दुनिया, में वह स्थित है, के बीच सम्बन्ध पाठ्यक्रम सम्बन्धी सैद्धान्तीकरण और आनुभविक अध्ययनों का विषय रहा है। माइकल यंग की 1971 में छपी पुस्तक, जिसमें उन्होंने पाठ्यक्रम को समस्या के रूप में प्रस्तुत किया था, के प्रकाशन के बाद शोधकर्ता स्कूली शिक्षा के इस पहलू के प्रति संवेदी रहे हैं कि वह एक गैर-एकरूप समाज में सामाजिक स्तरीकरण और गैर-बराबरी को बढ़ावा देता है।

बात चाहे औपनिवेशिक शिक्षा प्रणालियों के तहत देशज समुदायों की हो या मुख्यधारा के बरक्स हाशिए पर या सामाजिक रूप से वंचित समुदायों की हो, स्कूली दुनिया और बच्चे की दुनिया (घर और समुदाय, सांस्कृतिक व भाषाई, दोनों रूपों में) के बीच असन्तोषजनक सम्बन्धों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। इस सन्दर्भ में 'खाई', 'ध्रुवीकरण', 'अन्तर्विरोध', 'दूरियाँ', और 'गैर-निरन्तरता' जैसे शब्दों का उपयोग किया गया है। औपनिवेशिक काल में

स्कूली शिक्षा की वजह से अपने माता-पिता के समुदाय से 'अलगाव' की बात को समूचे भारत में देखा गया था। यह बात आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा सम्बन्धी अध्ययनों में आज भी देखी जा रही है।

भारत में आदिवासी या सामाजिक रूप से वंचित समुदायों* के मामले में महसूस की गई इस खाई के जवाब में जो एक नीतिगत पहल हुई है वह 'शिक्षणीयता' (यानी व्यक्ति या समुदाय की शिक्षित हो पाने की काबिलियत - educability) पर आधारित है। इसके अन्तर्गत अन्तरों की व्याख्या प्रतिकूलता या डिसएडवांटेज के रूप में की जाती है और माना जाता है कि 'खाई' को पाटने के लिए, इन बच्चों के लिए आवासीय स्कूल जैसे ढाँचों की मदद से, घर के प्रभाव को न्यूनतम करना होगा। कई राज्यों में आदिवासी कल्याण विभाग आश्रम शालाओं के नाम से आवासीय स्कूल चलाते हैं।

इसके विपरीत, कुछ कार्यक्रमों में स्कूल को बच्चों की दुनिया के नज़दीक लाने का तरीका भी अपनाया गया है, खास तौर से गैर-सरकारी संस्थाओं (एनजीओ) के द्वारा। 'बच्चे को स्कूल में सहज महसूस हो, इसके लिए पारम्परिक खेल, चुटकुले, पहेलियाँ, कहानियाँ, गीत और नृत्य' को शामिल करने का सुझाव 'खाई को पाटने' के इस दूसरे तरीके में से उभरता है। अलबत्ता, दोनों ही मामलों में 'खाई', 'ध्रुवीकरण' वगैरह जैसे शब्द प्रतीकात्मक हैं। मूल्य-आधारित निर्णय से आगे जाकर ये यह नहीं बताते कि अन्तर में क्या-क्या शामिल है। इसके लिए ऐसे अवधारणात्मक औज़ार चाहिए, जो हमें पाठ्यक्रम के संघटन को इस लिहाज़ से समझने में मदद करें कि इसमें समावेश के लिए किसके ज्ञान को चुना जाता है या इसे कैसे प्रस्तुत किया जाता है या सीखने वाले (छात्र) के लिए इसके परिणाम क्या होते हैं। इन परिणामों को हम बर्नस्टाइन के 'भाषाई कोड्स' और 'फ्रेमिंग' या बोर्डो के हैबिटस जैसी अवधारणाओं के तहत समझते हैं। इस परचे में मैं बैगा देशज ज्ञान (जिसे विद्या कहते हैं) और औपचारिक स्कूली ज्ञान के बीच अन्तरों को ज्ञान-सम्बन्धी तौर-तरीकों और सीखने की परम्पराओं के सन्दर्भ में देखूँगी।

इस परचे की पृष्ठभूमि में दूसरा समकालीन सरोकार सरकारी स्तर पर स्कूली पाठ्यक्रम में 'देशज ज्ञान' के समावेश में बढ़ती दिलचस्पी है। यह बात राष्ट्रीय पाठ्यचर्या में साफ झलकती है। भारत में देशज ज्ञान में

---

* *भारत का संविधान कुछ समुदायों के लिए विशेष प्रावधान व विशेषाधिकारों की ज़रूरत को मान्य करता है ताकि पारम्परिक सामाजिक संगठन की वजह से होने वाली वंचना के अतिरेक का सामना किया जा सके। ऐसी लाभान्वित जातियों व जनजातियों को संविधान की अनुसूची में शामिल किया गया है।*

बहुत विविधता है। यह धार्मिक व दार्शनिक अध्ययनों से लेकर परफॉर्मिंग आर्ट्स व हस्तकलाओं तक में है। ज्योतिष को पहले ही विश्वविद्यालय स्तर पर एक विषय के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

सुंदर का तर्क है कि किसी किस्म के देशज ज्ञान के लिए वैधता व संरक्षण प्राप्त कर पाना सम्बन्धित समूह की स्थिति व ताकत का प्रतिबिम्ब है। ज्योतिष को हिन्दू दक्षिणपन्थी समर्थन हासिल है, जो उस राजनैतिक दल से सम्बद्ध है जो वर्तमान में राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता में है। लिहाज़ा, उसे सरकारी मान्यता मिल गई है मगर राजनैतिक ताकत से रहित किसी आदिवासी समूह के देशज ज्ञान को सम्भवतः औपचारिक शिक्षा प्रणाली में स्थान मिलना मुश्किल है। इस परचे में मैं इस बहस में जो आयाम जोड़ना चाहती हूँ, उसका सम्बन्ध देशज ज्ञान, खास तौर से मौखिक ज्ञान, और साक्षर परम्परा पर आधारित आधुनिक औपचारिक स्कूल के तौर-तरीकों और ढाँचों के बीच ज्ञानशास्त्रीय तालमेल से है।

अगले खण्ड में बैगा जनजाति का परिचय दिया गया है और उसके बाद

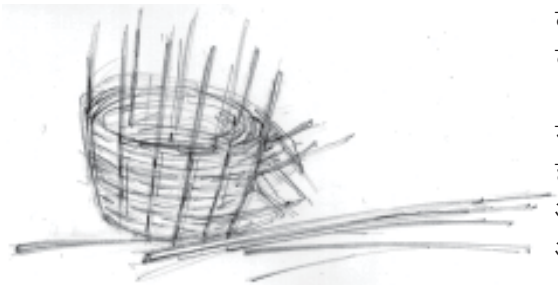

के खण्ड में इस इलाके में औपचारिक स्कूली शिक्षा की स्थिति की चर्चा की गई है। इसके बाद जादू-टोने और चिकित्सा की ज्ञान प्रणाली, जिसे विद्या कहते हैं और जिसके लिए यह जनजाति मशहूर है, का विवरण दिया गया है और इस बात की चर्चा की गई है कि विद्या सीखी कैसे जाती है। इसके अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि बचपन के समाजीकरण के वे कौन-से पहलू हैं जो विद्या सीखने के लिहाज़ से प्रासंगिक हैं। अन्तिम खण्ड में साक्षर परम्परा पर आधारित स्कूल की तुलना 'विद्या सीखने की परम्परा' से की गई है।

उत्तरी कवर्धा के बैगा

बैगा एक छोटी-सी जनजाति है जो मध्य भारत में वन क्षेत्र में ऊपरी नर्मदा के किनारे मैकल पर्वत ृंखला में निवास करती है। वैसे गोंड, अगरिया और प्रधान जैसी अन्य जनजातियाँ तथा अहीर (यादव) तथा पंका जैसी अन्य जातियाँ भी इस क्षेत्र में निवास करती हैं मगर बैगा इस क्षेत्र के मूल निवासी माने जाते हैं। वे जो भाषा बोलते हैं उसे 'बैगा बोली' कह सकते हैं। यह उस इलाके में आम तौर पर बोली जाने वाली भाषा छत्तीसगढ़ी का एक रूप है।

बैगा लोगों का प्रथम व्यवस्थित मानव-वैज्ञानिक विवरण रसेल व हीरालाल की 'ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल इंडिया' में मिलता है। अलबत्ता, उनकी खानाबदोश जीवन

शैली, शिफ्टिंग खेती के रिवाज़, जादू-टोना और चिकित्सा का सबसे महत्वपूर्ण मानव-वैज्ञानिक विवरण वेरियर एल्विन ने दिया है। ब्रिटिश औपनिवेशिक वन-नीति के चलते बैगा लोग एक जगह बसकर हल चलाकर खेती करने पर मजबूर हुए थे। उनकी वर्तमान जोतें छोटी-छोटी और प्रायः असिंचित हैं। कृषि जीवन-निर्वाह के स्तर की है। वे अपनी कई ज़रूरतों के लिए जंगल पर निर्भर हैं: ईंधन और घर बनाने व टोकरियाँ बनाने के लिए बाँस, लघु वनोपज, जिसे बेचते हैं, कन्द, फल और शिकार जिनकी मदद से वे अपने भोजन को पूरा करते हैं, और जड़ी-बूटियाँ तथा मनोरंजन। भारत सरकार ने बैगा को एक 'आदिम जनजाति' (अत्यन्त दूर-दराज़ के क्षेत्र में रहने वाले तथा बहुत कम साक्षरता वाले समूह, बैगा के मामले में साक्षरता 5 प्रतिशत है) के रूप में वर्गीकृत किया है। वे राज्य के कई विकास व कल्याण कार्यक्रमों के लक्ष्य हैं।**

1999 से 2001 के दरम्यान मैंने तीन बार में करीब 6 महीने छत्तीसगढ़ प्रान्त के कवर्धा ज़िले के दलदली आरक्षित वन क्षेत्र के निकट बसे दो दूर-दराज़ के गाँवों में बिताए थे। गाँव बाघमारा और कसाईकुंडा ज़िले के उत्तरी हिस्से में एक छोटी-सी नदी की घाटी में एक-दूसरे से 1 कि.मी. की दूरी पर बसे हैं। दोनों गाँवों में मिलाकर कुल करीब 52 परिवार हैं। कान्हा आरक्षित वन पास ही है। दलदली पठार पर सबसे बड़ा गाँव है जो बाघमारा से करीब 7 कि.मी. दूर है। यहाँ एक आवासीय विद्यालय है, एक साप्ताहिक हाट लगता है और सार्वजनिक वितरण प्रणाली की एक दुकान है। स्कूल आदिवासी कल्याण विभाग द्वारा संचालित आश्रम शाला है और इसमें दो स्कूल हैं - एक कन्या स्कूल और एक बालक स्कूल। दोनों एक ही इमारत में हैं। हाल ही में इसे माध्यमिक स्कूल का दर्ज़ा मिला है।

इस क्षेत्र में जातियाँ और जन-जातियाँ आम तौर पर मिले-जुले गाँवों में रहती हैं। बाघमारा और कसाईकुंडा दूर-दराज़ के गाँव होने की वजह से

** *सव्यसाची (1991) का विचार है कि इस संवैधानिक प्रावधान के चलते 'आदिवासी' पहचान को एक जड़ता मिली है जो अतीत में नहीं थी। अब 'आदिवासी' और 'गैर-आदिवासी' के बीच की सीमा रेखा अलंघनीय हो गई है। बेटे भी बताते हैं कि "अभी हाल तक आदिवासी एक स्थानीय तंत्र था और अलग-अलग क्षेत्रों के आदिवासियों का एक-दूसरे से खास लेना-देना नहीं था। अब न सिर्फ एक सुनिश्चित आदिवासी पहचान है जिसे कानूनी मान्यता प्राप्त है, बल्कि उस पहचान को बनाए रखने और सुदृढ़ करने में एक राजनैतिक हित भी है।" (बेटे, 1986)*

यहाँ मुख्य रूप से बैगा लोग रहते हैं। कुछ परिवार गोंड और अहीर (यादव) हैं। सड़कों और सरकार प्रायोजित योजनाओं तक ज़्यादा पहुँच वाले गाँवों के मुकाबले इन गाँवों के बैगा लोगों ने पारम्परिक पहनावा और रहन-सहन बरकरार रखा है। औरतें कपाल और शरीर पर विशिष्ट गोदने गुदवाती हैं और लाल-सफेद चौखाने वाली साड़ियाँ घुटनों तक पहनती हैं। आदमी आम तौर पर लम्बे बाल रखते हैं जिन्हें वे एक जूड़े के रूप में सिर के बाजू में बाँधते हैं। बूढ़े लोग आज भी सिर्फ लंगोट पहनते हैं। सभी आदमी जब गाँव से बाहर जंगल की ओर जाते हैं तो हमेशा कुल्हाड़ी साथ रखते हैं। औरतें जंगल जाते समय हंसिया लेकर चलती हैं।

इस इलाके में रहने वाले विभिन्न जातीय व जनजातीय समूहों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति कई लिहाज़ से एक-समान है। पारम्परिक व्यावसायिक परस्पर निर्भरता है। जैसे, अहीर परिवार को मवेशी सँभालने की ज़िम्मेदारी दी जाती है, जिसके लिए वस्तु के रूप में भुगतान किया जाता है। या किसी हुनरमन्द बैगा को बाँस के सूपड़े बनाने का काम दिया जा सकता है या किसी बैगा गुनिया को बीमारी के इलाज के लिए बुलाया जा सकता है। इलाके के सारे लोग जंगल पर निर्भर हैं मगर बैगा लोगों का दावा है कि जंगल के साथ उनका रिश्ता खास है और निडर है। ऐसा माना जाता है कि उनके पास जंगलों का, जड़ी-बूटियों का और बीमारियों के चमत्कारिक इलाज का विस्तृत ज्ञान मौजूद है। बाघमारा और कसाईकुंडा, दोनों गाँवों में कई चिकित्सक थे - 'वैदी' भी (जड़ी-बूटियों वाले) और 'गुनिया' भी (जादू-टोने वाले)। इन लोगों ने यह कला अपने गुरुओं से सीखी है और अब इसका अभ्यास करते हैं।

परिवार भी रिश्तेदारियों या दोस्तियों (जो औपचारिक रस्मी दोस्ती भी हो सकती है या अपेक्षाकृत ढीली-ढाली समावेशी धारणा संगवारी भी हो सकती है या सहमना लोगों का समूह भी हो सकता है) के ताने-बाने में गूँथे हुए हैं। इस तरह के गठन के पीछे कारण सामाजिक और श्रम/आर्थिक हो सकते हैं। सांस्कृतिक रूप से हरेक समूह के अपने अलग-अलग पहलू होते हैं मगर कुछ बातें साझा भी हैं। बैगा गीत और नृत्य इलाके के अन्य समूहों से अलग हैं और इस मामले में उन्हें अपनी श्रेष्ठता पर फख्र है। हर नई पीढ़ी में बैगा उत्पत्ति की पौराणिक कथा कुछ आदमी सीखते हैं और हर साल 'बिद्री' और 'देवली' के समय यह कथा सुनाई जाती है। बिद्री और देवली बीज और अच्छी फसल के लिए किए जाने वाले महत्वपूर्ण सालाना अनुष्ठान हैं। यह कथा आज भी बैगा लोगों के लिए खुद को समझने, इलाके में रहने वाले अन्य समुदायों से अपने रिश्ते को समझने, विश्व से अपने सम्बन्ध को

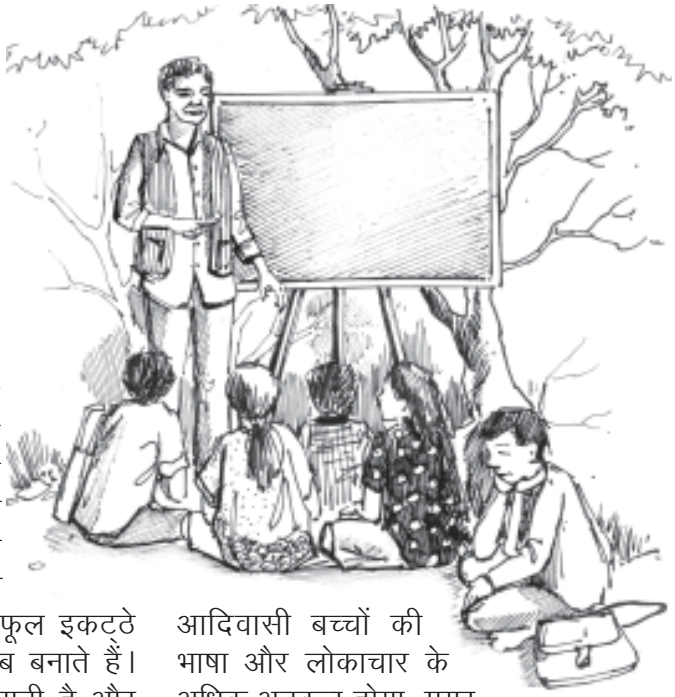

समझने और नियति के अपने एहसास का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। एक बार मैं उस समय इस क्षेत्र में पहुँची थी जब बिद्री बनाने का समय नज़दीक था। इस समय कई बैगा बुज़ुर्गों ने इस रिवाज़ के महत्व के बारे में बताया और यह भी बताया कि इसे सम्पन्न करने में बैगा लोगों की क्या भूमिका होती है। इलाके के सारे समुदाय अप्रैल माह में महुआ के फूल इकट्ठे करते हैं और उनसे शराब बनाते हैं। यह शराब पवित्र मानी जाती है और इसे पूजा के मौकों पर चढ़ाते और पीते हैं। जब भी वे इसे पीते हैं तो पीने से पहले कुछ बूँद शराब धरती पर छिड़कते हैं। यह प्रथम बैगा पुरुष व बैगा महिला को याद करने का उनका तरीका है। बिद्री और बिदा जैसे अवसरों पर, जो बुराई को दूर रखने के लिए साल में दो बार मनाए जाते हैं, और चेरता जैसे बच्चों के त्योहारों पर गाँव में रहने वाली सारी जातियाँ और जनजातियाँ शामिल होती हैं।

औपचारिक स्कूल

दलदली गाँव में आदिवासी कल्याण विभाग द्वारा संचालित दो आश्रम शालाएँ हैं - एक लड़कों के लिए और एक लड़कियों के लिए। हालाँकि यह सोचा गया था कि ये आश्रम शालाएँ अलग पाठ्यक्रम पर आधारित होंगी जो आदिवासी बच्चों की भाषा और लोकाचार के अधिक अनुकूल होगा, मगर अधिकांश आश्रम शालाएँ मुख्यधारा के सरकारी स्कूलों के समान ही चलती हैं। दलदली की आश्रम शालाएँ भी कोई अपवाद नहीं हैं। शिक्षा का माध्यम हिन्दी है, जो छत्तीसगढ़ी और बैगा-बोली, दोनों से बहुत अलग है और बच्चों के लिए अनजानी है। सारे शिक्षक मैदानी इलाकों के हैं और वे न सिर्फ इस दुर्गम क्षेत्र के आदिवासियों की संस्कृति से अनभिज्ञ हैं, बल्कि उसके बारे में बहुत अच्छे विचार भी नहीं रखते। कई शिक्षकों को लगता है कि सबसे पहले तो इन बच्चों को साफ-सफाई और सही ढंग से खाने-पहनने का सबक देना चाहिए। स्कूल काफी अनियमित ढंग से चलता है और जब वह चलता है, तो सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पाठों को बार-बार दोहराने पर

आधारित होती है। जिस चीज़ को वे याद कर रहे हैं, उसमें से कोई अर्थ निकालने की कोशिश न तो शिक्षक करते हैं, न बच्चे। एक बैगा हरे सिंह अपने बच्चों को ऐसी आश्रम शालाओं में भेजते हैं जो कहीं ज़्यादा दूर हैं। ये शालाएँ कहीं ज़्यादा नियमित हैं, मगर शिक्षा पद्धति वैसी ही है।

पिछले पाँच वर्षों में इस इलाके में कई सरकारी स्कूल खुले हैं। कसाईकुंडा में एक स्कूल है, जो गाँव प्रधान के घर के सामने के आंगन में चलता है। इस स्कूल में दो शिक्षक हैं और कम-से-कम एक तो अपना काफी समय गाँव में ही बिताता है और रोज़ाना कक्षा लगाता है। बाघमारा का स्कूल सरकारी 'शिक्षा गारंटी स्कीम' शाला (ईजीएस) है। शिक्षक महीने में मात्र 2-3 सप्ताह उपस्थित होते हैं। बहुत ही कम बैगा बच्चे इन स्कूलों में जाते हैं। अभिभावक साफ तौर पर कोई रुचि नहीं रखते और बच्चों को स्कूल जाने पर मजबूर नहीं करते। बच्चे अक्सर स्कूल से भाग जाते हैं। उन्हें स्कूल की नीरसता और शिक्षकों के निर्मम ताने-उलाहने सुनने की बजाय जंगल में घूमना या झींगे पकड़ना बेहतर लगता है। बाघमारा के कई बच्चों ने कबूल किया कि स्कूल न जाने का यही कारण है। ईजीएस स्कूल में ज़्यादा 'बाल-स्नेही' पाठ्यक्रम की अपेक्षा की जाती है। मगर किताबें, जो हिन्दी में हैं, बच्चों की समझ से बाहर ही हैं। मुख्यधारा की किताबों और ईजीएस, दोनों में जिस भाषा का इस्तेमाल होता है और जो वस्तुएँ, परिदृश्य और मूल्य प्रस्तुत किए जाते हैं, वे बैगा लोगों और उनके बच्चों के लिए पूरी तरह बेगाने होते हैं। दलदली के ग्राम प्रधान की राय में गीत गाने और कविताएँ बोलने की नई तकनीक 'पिछड़ी' तकनीक है और इससे उन बच्चों को कोई मदद नहीं मिलेगी जो पहले से ही 'पिछड़े' हुए हैं।

ज्ञान का खज़ाना

सरस्वती का 1972 का शोध पत्र 'ट्रेडिशनल मोड्स ऑफ लर्निंग' (सीखने के पारम्परिक तरीके) भारत में पारम्परिक ज्ञान प्रणालियों को लेकर एक महत्वपूर्ण अध्ययन है। इस पर्चे में उन्होंने धर्मशास्त्र, तर्क, व्याकरण, स्थापत्य कला, चिकित्सा और कुम्हारी व कपड़ा बुनने जैसी हस्तकलाओं को भी शामिल किया है। उनका सुझाव है कि शास्त्रिक ज्ञान और लौकिक ज्ञान के बीच भेद करना चाहिए। शास्त्रिक

ज्ञान में सैद्धान्तिक अध्ययन और स्थापत्य कला या चिकित्सा जैसे प्रयुक्त शोध शामिल होते हैं, जिनके लिए निर्देशक ग्रन्थ और शिक्षण के मान्य तरीके और पाठ्यक्रम होते हैं। यह ज्ञान सुव्यवस्थित होता है और साक्षर परम्परा का अंग होता है। हस्तकलाओं, जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना या कपड़ा बुनना, को लौकिक ज्ञान के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। इन्हें अनुभव व अभ्यास से, गलती कर-करके सीखा जाता है, और ये गैर-साक्षर प्रकृति के होते हैं। मानव वैज्ञानिकों द्वारा किए गए विभेद के मुताबिक जहाँ शास्त्रिक ज्ञान 'वृहद परम्परा' के अंग हैं, वहीं लौकिक ज्ञान 'लघु परम्परा' के अंग हैं। अलबत्ता, इस योजना में उस ज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है जो बैगा लोगों के पास है और जिसका वे उपयोग करते हैं। इसमें जड़ी-बूटियों, रोग निदान व उपचार का ज्ञान शामिल है जिसे एक मौखिक, गैर-साक्षर परम्परा के अन्तर्गत प्रसारित किया जाता है, सीखा जाता है और याद रखा जाता है। यह इस अर्थ में स्थानीय है कि यह संस्कृति व इकोलॉजी का भाग है। इसमें शामिल सूचना की विविधता, जटिलता और विशेषीकरण और उसके उपयोग की दृष्टि से यह आयुर्वेद और स्थापत्य कला जैसी अन्य देशज शास्त्रिक प्रणालियों के समकक्ष है। मगर हस्तकलाओं की तरह यह मौखिक है और 'लघु परम्पराओं' के गैर-साक्षर विश्व का प्रतिफल है। जिस सामाजिक-सांस्कृतिक और खासकर जिस इकोलॉजिकल सन्दर्भ में इसे सीखा और अभ्यास किया जाता है, वह ज्ञान का एक अहम हिस्सा है। और तो और, यह ज्ञान प्रणाली जीवन निर्वाह स्तर की अर्थ-व्यवस्था आधारित जीवन शैली से निर्मित 'हैबिटस' में साकार होती है, उपयोग की जाती है और प्रसारित की जाती है।***

बैगा गाँवों को ज्ञान-शास्त्रीय समुदाय माना जा सकता है जो चिकित्सकीय ज्ञान के उपयोग व प्रसारण में जुटा है। समुदाय के विभिन्न सदस्यों के बीच इस ज्ञान का बँटवारा है। जैसे बाघमारा गाँव में लगभग सारे वयस्कों के पास जंगल के पेड़-पौधों के बारे में काफी विस्तृत ज्ञान है और विभिन्न पेड़-पौधों के चिकित्सकीय गुणों की अलग-अलग स्तर की जानकारी है। बच्चे, लड़के-लड़कियाँ दोनों, पाँच-छः साल की उम्र से ही गाँव के आसपास की कई आम जड़ी-बूटियाँ पहचान सकते हैं। कई मामलों में वे यह भी बता पाए कि इन जड़ी-

*** *नन्दा (1989) आदिवासी समुदायों के लोकाचार को समझने में उनके जीवन के आर्थिक आधार तथा उत्पादन क्रियाकलापों के महत्व की ओर ध्यान दिलाते हैं। जीवन-निर्वाह स्तर की अर्थ-व्यवस्था को संकीर्ण ढंग से गरीबी बता देना हमें इस आयाम के प्रति असंवेदी बना देता है। 'स्थानीय' ज्ञान के गुणधर्मों के विश्लेषण और इस शब्द के विभिन्न अर्थों की एक समीक्षा के लिए देखें एंटवाइलर (1998)।*

बूटियों का इस्तेमाल किस तकलीफ, आम तौर पर पेट की तकलीफों, के इलाज में होता है। आठ साल की उम्र तक तो बच्चे का पर्यावरण भी काफी व्यापक हो जाता है और उसके बारे में ज्ञान भी नाटकीय ढंग से बढ़ जाता है। जब हम साथ-साथ जंगल गए, तो उन्होंने 60 से ज़्यादा पेड़-पौधों के नाम उनके चिकित्सकीय गुणों समेत बताए। उन्होंने यह भी बताया कि किन पेड़ों पर फल लगते हैं जिन्हें खाते हैं या जो अन्य तरह से उपयोगी होते हैं। उन्होंने अपनी फेहरिस्त को मेरे ऊपर तरस खाकर रोका क्योंकि कुछ समय बाद मैं याद नहीं रख पा रही थी। खुद बैगा लोग तो जंगल के वनस्पति जीवन के अपने ज्ञान को कोई विशेष बात नहीं मानते। वैसे वे यह जानते हैं कि हर गाँव में कुछ पुरुषों का ज्ञान कहीं ज़्यादा विस्तृत और विशेष होता है। जहाँ तक चिकित्सकीय ज्ञान का सवाल है, वे मानते हैं कि यह अपेक्षाकृत विशिष्ट होता है और किसी गुरु से ही सीखा जा सकता है। इस ज्ञान को वे विद्या कहते हैं और मानते हैं कि इसकी उत्पत्ति ईश्वरीय हैः प्रथम बैगा, नांगा बैगा, ही प्रथम चिकित्सा पुरुष था और उसे यह ज्ञान भगवान महादेव से प्राप्त हुआ था। कई सारे मंत्रोच्चारों में इस बात का उल्लेख होता है कि किन गुरुओं से होकर विद्या हस्तान्तरित हुई है और जिनके नाम आज भी शक्तिशाली हैं (वर्तमान अभ्यासी स्वयं को इस वंशावली का हिस्सा मानते हैं, हालाँकि कभी-कभार ही उन्हें यह पता होता है कि उनके गुरु का गुरु कौन था)। इस ज्ञान में विभिन्न जड़ी-बूटियों और उनके नुस्खों का ज्ञान और कई पारलौकिक शक्तियों का ज्ञान शामिल है। इनमें अच्छी शक्तियाँ भी हैं और बुरी भी जो अस्वस्थ करती हैं और जिन्हें प्रसन्न करके रखना पड़ता है। कुछ चिकित्सक जड़ी-बूटियों का ज़्यादा ज्ञान रखते हैं और उन्हें 'वैदी' कहा जाता है। अन्य को जादू-टोना और पारलौकिक शक्तियों का ज़्यादा ज्ञान होता है और वे 'गुनिया' कहलाते हैं। शगुन-अपशगुन का विचार करने के अलावा गुनिया और वैदी, दोनों ही नाड़ी भी देखते हैं और अन्य शारीरिक जाँचें भी करते हैं। वे टट्टी-पेशाब के बारे में जानकारी भी लेते हैं। विद्या को पुरुषों का अधिकार क्षेत्र माना जाता है। जिन औरतों को विद्या आती

है, उन्हें डायन माना जाता है। सुनी माई (यानी दाई) का काम करने वाली औरतों के पास गर्भावस्था और प्रसव सम्बन्धी जो जानकारी होती है उसे विद्या नहीं माना जाता। बैगा लोगों के विशेषीकृत ज्ञान का यह विवरण अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विमर्श में 'देशज ज्ञान' के विवरण से मेल खाता है। ऐसे अधिकांश विवरण मूल निवासियों के जैव विविधता और जड़ी-बूटियों और इकोलॉजी सम्बन्धी गैर-पाश्चात्य, मौखिक ज्ञान के बारे में हैं। अधिकांशतः ये वे मूल निवासी हैं जो उपनिवेशिकरण के फलस्वरूप हाशिए पर धकेले गए हैं, बेदखल किए गए हैं। बेटे जैसे मानव वैज्ञानिकों का तर्क रहा है कि इस जुम्ले का उपयोग भारतीय सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके तहत जिस पृथक्करण की प्रस्तावना दी जा रही है वह वैध न होने के अलावा खतरनाक भी है। इस शब्द में जो नैतिक बल निहित है, वह श्रेष्ठतावादी और सामुदायिक पहचान की राजनीति को बढ़ावा देता है। मैंने यहाँ इस शब्द का उपयोग बैगा विद्या के एक सामान्य विवरण के विचार से किया है, न कि उसके लिए किसी विशिष्ट हैसियत के दावे के रूप में। ऐसा उसकी गैर-पाश्चात्य उत्पत्ति को रेखांकित करने और यह सुनिश्चित करने के लिए किया गया है कि इसे देशज ज्ञान प्रणालियों के मौजूदा विमर्श में शामिल किया जाए। जैसा कि सरस्वती हमें याद दिलाते हैं, भारत में 'देशज ज्ञान प्रणालियों' में विविध ज्ञानशास्त्र और ज्ञानशास्त्रीय तौर-तरीके शामिल हैंः पाठ्य-आधारित से लेकर वृहद व लघु, दोनों तरह की परम्पराओं के मौखिक व्यवस्थितकृत ज्ञान, प्रदर्शन कलाएँ और हस्तकलाएँ।

(...जारी)

पद्मा सारंगपाणीः भौतिक शास्त्र में एम.एससी. और शिक्षा में पीएच.डी.। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़, बैंगलोर और टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सांइसिस, मुम्बई में प्रोफेसर रही हैं। पिछले दशक से उनकी विशेषज्ञता और शोध कुछ खास क्षेत्रों में रहे हैं जैसे गुणवत्ता और शिक्षा, शिक्षक, पढ़ाना और शिक्षक शास्त्र, पाठ्यक्रम शिक्षा, देसी ज्ञान और गैर-स्कूली हालातों में ज्ञान का संचार व प्रारम्भिक शिक्षा। इन्दिरा गाँधी मेमोरियल फैलोशिप के सहारे उन्होंने वह शोध किया जिस पर यह लेख आधारित है।

अँग्रेज़ी से अनुवादः सुशील जोशीः एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

सभी चित्रः सौम्या शुक्लाः सेंट जोसफ कॉन्वेंट स्कूल, भोपाल से हाल ही में 12वीं की परीक्षा उत्तीर्ण की है। स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं।

यह लेख 'कम्पैरेटिव एजुकेशन' पत्रिका के अंक 39 (नं 2), पृष्ठ 119-209 में कारफैक्स पब्लिशिंग द्वारा छापा गया था।

लेख में ज़िक्र सन्दर्भों की पूरी सूची के लिए मूल लेख देखें।

मलाला युसुफ़ज़ई

जिज्ञासा, आदर, विज्ञान और कलाएँ

(मलाला युसुफ़ज़ई के लिए)

राजा मोहन्ती

जिज्ञासा क्या और आदर (रेवरेन्स) क्या है? क्या तुम जिज्ञासु हो? और किस चीज़ के लिए तुम्हारे मन में विस्मय व आदर है? मैंने दस साल की अपनी भतीजी से पूछा।

उसने मेरी ओर देखा और बोली, "क्या आप मुझे पापा जैसा फोन दिला सकते हो?" मुझे लगा शायद वह मेरे सवाल सुन नहीं पाई है। सो मैंने अपने सवाल दोहराए। उसने फिर से मेरी ओर देखा। वो समझ गई थी कि मैं उसका जवाब समझ नहीं पाया हूँ। वो अपने पापा के फोन के बारे में जानने के लिए उत्सुक थी और उसे विस्मय से देखती थी। उसने बताया कि फोन उसे एक जादूगर की तरह लगता है। आप उससे बात कर सकते हो, उसे पिज़्ज़ा लाने के लिए कह सकते हो। और आधे घण्टे के भीतर स्मार्ट ड्रेस पहने एक लड़का गरमा-गरम पिज़्ज़ा लिए आपके दरवाज़े पर होगा। कभी-कभी जब वो फोन पर हलके-से फुसफुसाती भर है तो हज़ारों किलोमीटर दूर बैठे उसके दादा जी उसकी बात साफ-साफ सुन पाते हैं। यह अलग बात है कि कभी-कभी कॉल कट जाती है और बात नहीं हो पाती। पर फोन फिर भी चमत्कारी बना रहता है। भले ही घर के बाहर खेलते उसके छोटे भाई को उसकी चीखती आवाज़ सुनाई नहीं दे, पर उसकी एक हलकी-सी लरज़ती फुसफुसाहट भी फोन के ज़रिए दूर अमृतसर तक पहुँचती है। कभी-कभी पापा अपने लंदन वाले दोस्त से बातें करते हैं और इतनी दूर से आने वाली आवाज़ उसे सुनाई दे जाती है।

मैं विज्ञान पढ़ाता हूँ। जब कभी मुझे बाँसुरी बजाने की इच्छा होती है तो मैं बाँसुरी बजाता हूँ। मैं चाहता

था कि मेरी भतीजी भी विज्ञान के जादू और संगीत की खूबसूरती को समझे। इसीलिए मैंने उससे ऐसे सवाल किए - जानने की इच्छा के बारे में, किसी के प्रति मन में अपार श्रद्धा आने के बारे में। पर उसके जवाब ने सिखाने की मेरी इच्छा पर पानी फेर दिया - भले ही कुछ देर के लिए।

मैंने सोचा कि इस बार मैं किसी और रास्ते से उस तक पहुँचने की कोशिश करता हूँ। तो मैं उसके पास गया। और पूछा कि क्या उसे सौर सैल और सौर ऊर्जा के बारे में पता है। वह अपने फोन पर उँगलियों से कुछ टाइप कर रही थी। और मेरी ओर देखे बगैर बोली, "हाँ। मुझे लगता है सौर ऊर्जा का इस्तेमाल करना एक बढ़िया विचार है। हमारे बगीचे के बकुल के पेड़ से हमें सीखना चाहिए। मालूम, बकुल बस अपनी पत्तियाँ धूप में फैला देता है। और उसी से वो अपना नाश्ता, दोपहर और रात का खाना बनाता है। हमारी विज्ञान की टीचर इस प्रक्रिया को प्रकाश-संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) कहती हैं। मैं सोचती हूँ कितना बढ़िया आइडिया है यह - न मॉल में जाना पड़े और न प्लास्टिक की थैलियों में चीज़ें लानी पड़ें...।" मैंने तुरन्त बात पलटी और पूछा कि क्या उसे पता है कि बाँसुरी से इतने सुन्दर सुर कैसे पैदा होते हैं।

बड़ी ही सुन्दर मुस्कुराहट के साथ फोन के स्क्रीन पर उसकी उँगलियाँ घूमीं और फिर थिरकने लगीं। वह जो

http://inktales.files.wordpress.com/2011/08/metro004.jpg

कुछ देर पहले तक एक फोन था अब बाँसुरी जैसा लगने लगा था - कुछ-कुछ बाँसुरी जैसा। मेरी बाँसुरी जैसे मीठे सुर तो न थे उसके, पर फिर भी बाँसुरी जैसे थे। उसकी उँगलियाँ फिर से फोन पर थिरकीं। एक पल के लिए वह मुझे कृष्ण सरीखी लगी। मैं थोड़ा निराश हुआ। और वापस वह किताब उठा ली जो मैं पढ़ रहा था। किताब बढ़िया थी। उसमें बताया गया था कि कैसे इन्सानी जिज्ञासा ने विज्ञान को जन्म दिया और कैसे विस्मय भरी श्रद्धा ने हमसे कलाएँ जन्मवाईं।

कुछ समय बाद मैं एक अन्य शिक्षक से मिला जिनका सोचना काफी हद तक मेरी तरह ही था। उनका भी मानना था कि आजकल की पीढ़ी

किताबें नहीं पढ़ती और इसलिए इस पीढ़ी से कितनी ही चीज़ें छूटी रह जाएँगी - उनमें किसी चीज़ के प्रति जिज्ञासा न होगी, और श्रद्धा तो बिलकुल ही न होगी।

यह बात कुछ साल पहले की है। दस साल तक एक स्कूल का हैडमास्टर रहने के बाद अब मैं रिटायर हो चुका हूँ। आज भी मैं नई पीढ़ी के बारे में शिक्षकों से वैसी ही शिकायतें सुनता रहता हूँ। आदतें मुश्किल से जाती हैं। और मैं उनसे इत्तेफाक भी रखता हूँ। पर फिर मैं अपनी भतीजी के बारे में सोचता हूँ जो अब बड़ी हो चुकी है और बहुत ही सुन्दर बाँसुरी बजाती है।

सोचता हूँ कि जिन बातों पर कभी मेरा इतना पुख्ता यकीन था क्या वो सच थीं - आज मैं पूरे यकीन से नहीं कह सकता।

राजा मोहन्तीः एक इंजीनियर के रूप में अपने कैरियर की शुरुआत करने के बाद विज़ुअल आर्ट की शिक्षा और पेशे से जुड़ गए। वर्तमान में आईडीसी, आईआईटी मुम्बई में अध्यापन करते हैं। लेखन, पिक्चर स्टोरीज़ तैयार करने और सिरैमिक के काम में रुचि
अँग्रेज़ी से अनुवादः शशि सबलोकः 'चकमक' पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

कार्टून कोना

कार्टूनः संतोष शर्मा, उज्जैन, म.प्र.

क्षमा कीजिए, आप दो नैनोसेकेण्ड विलम्ब से आए हैं।

जन्तु-भक्षी पौधों की दुनिया

अमृता सक्सेना, ऋचा रघुवंशी और एच.बी. सिंह

जीवन के रंग-बिरंगे और विविध रूपों के चलते प्रकृति सदा से ही मनुष्य के कौतूहल का विषय रही है। अधिकांश लोग इसकी अनन्त विविधता से वाकिफ हैं - चन्द माइक्रोमीटर लम्बे सूक्ष्मजीवों से लेकर विशालकाय डायनासौर तक जो कभी धरती पर विचरते थे। प्रकृति में पाई जाने वाली कई रचनाओं ने वैज्ञानिक समुदाय में भी हलचल पैदा की है और आज भी वैज्ञानिक ऐसे कई सजीव रूपों को समझने और व्याख्या करने की कोशिश कर रहे हैं जो लीक से हटकर हैं। ऐसी ही एक अनसुलझी

गुत्थी है वनस्पतियों के एक समूह की जो रुढ़िगत अर्थों में पौधे नहीं हैं। ये हैं कीटभक्षी पौधे। यह पौधों का एक अनोखा समूह है जो अन्य पौधों से न सिर्फ अपने पोषण की दृष्टि से बल्कि प्राकृतवास की दृष्टि से भी भिन्न है। इनका रूप-रंग भी काफी अलग होता है।

आइए वनस्पति जगत के इन निहायत अजीब व आकर्षक सदस्यों पर नज़र डालें।

जन्तुओं से पोषण

इन विचित्र पौधों को कई बार मांसाहारी पौधों की संज्ञा भी दी जाती है क्योंकि ये जन्तुओं को खाते हैं। बहुत समय पहले से ही कीटों को पकड़ने वाले ये पौधे लोगों का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, कौतूहल जगाते रहे हैं। पौधों के इस समूह ने 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़' के लेखक चार्ल्स डारविन को भी मोहित किया था। 1790 में थॉमस जेफरसन ने अध्ययन के लिए दक्षिणी कैरोलिना में चार्ल्सटन के नज़दीक वीनस फ्लाईट्रैप नामक पौधे का संग्रह किया था। उन्होंने कहा था कि वीनस फ्लाईट्रैप दुनिया के सबसे आश्चर्यजनक पौधों में से एक है। हल्के-से उद्दीपन के जवाब में इस पौधे की गतियों को समझने के लिए उन्होंने कई प्रयोग किए थे, जैसे मनुष्य के बाल का स्पर्श। वे तब अचरज में पड़ गए थे जब इस पौधे की पत्तियों ने बारिश की बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने पर भी कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। उन्होंने कीटभक्षी पौधों की कई प्रजातियों का विस्तृत अध्ययन किया और अपने अवलोकन व प्रयोग 1875 में प्रकाशित पुस्तक 'इन्सेक्टिवोरस प्लांट्स' में शामिल किए। उनकी एक रोचक खोज थी कि वीनस फ्लाईट्रैप में रोमों पर मिले उद्दीपन से पत्तियाँ सेकंड के मात्र दसवें भाग में बन्द हो जाती हैं। यह रफ्तार लगभग जन्तुओं में मांसपेशियों के संकुचन की गति के बराबर है। पौधों का यह व्यवहार इसलिए अचरज पैदा करता है क्योंकि उनमें न तो मांसपेशियाँ होती हैं और न ही तंत्रिकाएँ। इसके चलते यह सवाल स्वाभाविक है कि 'फिर ये पौधे जन्तुओं के समान क्रिया कैसे करते हैं?'

अलबत्ता, वनस्पति जगत के इन विचित्र सदस्यों को लेकर सब लोग रोमांचित और उत्साहित नहीं थे। जब महान स्वीडिश प्रकृति विज्ञानी कार्ल लीनियस को पता चला कि वीनस फ्लाईट्रैप कीटों को फँसाता है तो उन्होंने इसे 'ईश्वर द्वारा बनाई प्रकृति की व्यवस्था के विरुद्ध' घोषित किया था।

अक्सर कीटभक्षी पौधे काफी छोटे होते हैं। ये आम तौर पर पोषण-रहित मिट्टी में पाए जाते हैं। निश्चित रूप से ये अन्धकारमय दलदलों और जंगलों में नहीं पाए जाते, जैसा कि फिल्मों में दिखाया जाता है। जो पौधे जन्तुओं को आकर्षित करें, पकड़ें, पचाएँ और उनका रस सोख लें, उन्हें मांसाहारी

पौधे कहते हैं। वीनस फ्लाईट्रैप (जिसका चित्र पहले पृष्ठ पर दिया गया है) जैसे पौधों में कीटों के प्रति ज़्यादा लगाव दिखता है। इन्हें कीटभक्षी पौधे कहते हैं।

मांसाहारी पौधों के शिकार

मज़ेदार बात यह है कि इस श्रेणी के कई पौधे अपनी रंग-बिरंगी पंखुड़ियों की मदद से कीटों को आकर्षित करते हैं और ये कीट उनके लिए पराग-कणों का परिवहन करते हैं। परन्तु कीटभक्षी पौधे अपनी पंखुड़ियों से परागण में मदद लेने की बजाय उनकी मदद से भोजन प्राप्त करते हैं। कीटभक्षी पौधों में सनड्यू, पिचर प्लांट (कुम्भी पादप), बटरवार्टस, ब्लैडरवॉर्टस और वीनस फ्लाईट्रैप जैसे तमाम पौधे शामिल हैं। इन पौधों के शिकार भी बहुत विविध होते हैं - इनमें कीट, मकड़ियों समेत विभिन्न एरेक्निड्स, दीमकें, घोंघे व स्लग्स जैसे मोलस्क, कभी-कभी केंचुए और छोटे-मोटे रीढ़धारी जन्तु (छोटी-छोटी मछलियाँ, मेंढक, सरीसृप, कुतरने वाले जन्तु और पक्षी) भी होते हैं। लगभग 150 प्रजातियों के जन्तु इनके शिकार बनते हैं। आज तक जिस सबसे बड़े जीव के पकड़े जाने की खबर है, वह है एक चूहा।

यदि इन पौधों के प्राकृतवास और पोषण की बात करें, तो ये पौधे ऐसे इलाकों में उगते हैं जहाँ नाइट्रोजन, फॉसफोरस और पोटेशियम की कमी होती है। इसके अलावा, एक तथ्य यह भी है कि यदि उर्वरक (जैसे एनपीके) की खुराक मिले तो भी ये पौधे मर जाते हैं। पौधों के आम रिवाज़ के विपरीत ये पौधे अपना पोषण जन्तुओं के रस से हासिल करते हैं जो इनके लिए नाइट्रोजन और फॉसफोरस का स्रोत होता है।

मांसाहारी पौधों की विविधता

मांसाहारी पौधों ने वैकासिक इकोलॉजीवेत्ताओं, वनस्पति-शास्त्रियों और फलोद्यान विशेषज्ञों को सदियों से आकर्षित किया है। दुनिया भर में पाई जाने वाली करीब 10 लाख वनस्पति प्रजातियों में से 400 मांसाहारी हैं। वनस्पतियों के विकास के इतिहास में मांसाहार काफी देर से प्रकट हुआ है। सवाल है कि पेड़-पौधों के मांसाहार की ओर प्रवृत्त होने के कारण क्या हो सकते हैं। इकोलॉजीविद् मांसाहार के विकास में पोषण - पर्यावरणीय तनाव और संसाधनों के अभाव - की भूमिका मानते हैं। अध्ययन से पता चला है कि ये पौधे कम-से-कम 6 बार स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हैं। ये एकबीजपत्री और द्विबीजपत्री, दोनों तरह के फूलधारी पेड़-पौधों में मिलते हैं। कीटों से रासायनिक ऊर्जा प्राप्त करने का एक नया कारोबार शुरू करके इन पौधों ने एक नवीन ऊर्जा स्रोत पर टिके एक नए ठीये (niche) का सृजन किया है।

एक-समान जीवों के समूह की स्थापना में विविधता सदा एक प्रमुख कारक साबित हुई है। इसी प्रकार से

कीटभक्षी पौधे भी कई वर्गों में बँटे हैं। इस बात को नीचे दी गई तालिका के रूप में देखने से मदद मिलेगी।

भारत में मांसाहारी पौधे

इस तालिका से हिसाब लगाया जा सकता है कि पृथ्वी पर कीटभक्षी पौधों की लगभग 460 प्रजातियाँ हैं जो मुख्य रूप से कटिबन्धीय क्षेत्रों में पाई जाती हैं। इनमें उत्तरी अमेरिका, दक्षिण एशिया और ऑस्ट्रेलिया प्रमुख हैं। भारत में मांसाहारी पौधों की जो प्रजातियाँ पाई जाती हैं वे ड्रोसेरा (सनड्यू), पिंगुइकुला (बटरवर्ट्स), नपेंथिस (कुम्भी पादप), तथा अर्टिकुलेरिया (ब्लैडरवर्ट्स) जीनस की हैं। प्रकाशित रिकॉर्ड्स से पता चलता है कि ड्रोसेरा की कम-से-कम तीन प्रजातियाँ, पिंगुइकुला की एक प्रजाति, नपेंथिस की एक प्रजाति और अर्टिकुलेरिया की 34 प्रजातियाँ हमारे देश में मिलती हैं। ये कई तरह के

क्लास	ज्ञात प्रजातियों की संख्या	वितरण
सरासेनिया (ट्रम्पेट पिचर प्लांट)	लगभग 10	आम तौर पर दक्षिण पूर्वी अमेरिका में पाया जाता है, एक प्रजाति कनाडा में भी पाई जाती है।
डार्लिंगटोनिया (केलिफोर्निया पिचर प्लांट)	एक	उत्तरी केलिफोर्निया और पड़ोस के ओरेगन राज्य में पाई जाती है।
हेलिएम्फोरा (दक्षिण अमरीकी पिचर प्लांट)	करीब पाँच	आम तौर पर वेनेज़ुएला, गयाना, ब्राज़ील में पाई जाती है।
नपेंथिस (कटिबन्धीय पिचर प्लांट)	करीब 75	आम तौर पर दक्षिण पूर्वी एशियाई कटिबन्ध, ऑस्ट्रेलिया, मलेशिया और भारत से लेकर मैडागास्कर तक पाई जाती है।
सेफेलोटस (ऑस्ट्रेलियाई पिचर प्लांट)	एक	पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया में पाई जाती है।
डेरोसेरा (सनड्यू)	करीब 100	दुनिया भर में पाई जाती है, खास कर दक्षिण अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में।
डायोनिया (वीनस फ्लाईट्रैप)	एक	उत्तरी कैरोलिना के दक्षिण पूर्वी भाग में और पड़ोस के दक्षिण कैरोलिना में पाई जाती है।

ड्रोसेरा इंडिका - भारत में पाया जाने वाला एक कीटभक्षी पौधा

प्राकृत-वासों में उगते हैं - ड्रोसेरा मैदानी क्षेत्रों के फसली मैदानों में तो पिंगुइकुला हिमालय की ऊँचाइयों पर पाया जाता है।

जीनस नपेंथिस

चलिए नपेंथिस जीनस के बारे में थोड़ा और पता करते हैं। इस जीनस के पौधों में विशाल घड़ेनुमा शिकंजा (ट्रैप) पाया जाता है जो मांसाहारी पौधों की हमारी तस्वीर में एकदम फिट बैठता है। इनके शिकंजे 25 से 30 से.मी. तक के हो सकते हैं। यह नपेंथिस कुल का एकमात्र जीनस है। नपेंथिस सम्बन्धी प्रथम अवलोकन एक फ्रांसीसी उपनिवेश के गवर्नर एटिएन डी फ्लाकोर्ट ने रिकॉर्ड किए थे। जीनस को यह नाम लीनियस ने दिया था। उन्होंने यह नाम हेलन ऑफ ट्रॉय द्वारा अपने मेहमानों को नशे में धुत करने के लिए उपयोग किए गए नशीले पदार्थ नपेंथ के नाम पर दिया था। इस जीनस के पौधे लताओं के रूप में पाए जाते हैं। शिकंजे के आकार के आधार पर इन्हें 'कटिबन्धीय पिचर प्लांट' के नाम से भी जाना जाता है। कभी-कभी इन्हें 'मंकी कप' भी कहते हैं क्योंकि कुछ लोगों का अवलोकन है कि बन्दर इनमें से बारिश का पानी पीते हैं।

नपेंथिस का भौगोलिक वितरण दक्षिण-पूर्व एशिया से लेकर पश्चिम में सेशेल्स और पूर्वी मैडागास्कर तथा दक्षिण में ऑस्ट्रेलिया तक है। वैसे इसकी विविधता का केन्द्र तो दक्षिण पूर्व एशिया ही है। इस जीनस में 100 से ज़्यादा प्रजातियाँ हैं। इनमें घड़े (पिचर) की रचना, पौधे पर घड़े के लगने की स्थिति (ऊपरी घट, निचला घट) में विविधता पाई जाती है। इसके

नपेंथिस खासियाना का घड़ा और ढक्कन

अलावा इस बात में भी काफी विविधता है कि कोई प्रजाति किस ऊँचाई पर पाई जाती है (निचली भूमि की प्रजातियाँ और ऊँचाई की प्रजातियाँ)।

कुछ प्रजातियों की विशेषताओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

दक्षिण पूर्वी एशिया में नपेंथिस

नपेंथिस खासियाना - यह एक जोखिम-ग्रस्त प्रजाति है। यह मांसाहारी पौधों की एकमात्र प्रजाति है जो सिर्फ भारत में ही पाई जाती है। दूसरे शब्दों में यह भारत में एंडेमिक है। ऐसा माना जाता है कि ये पौधे अपने शिकार को नीली प्रतिदीप्ति (fluorescence) से आकर्षित करते हैं। इनके कलश से नीली रोशनी निकलती है जो उन जन्तुओं को दिखाई देती है जो पराबैंगनी प्रकाश देख सकते हैं। इनमें कई कीट भी शामिल हैं। मेघालय के खासी पर्वतों में पाए जाने वाले इस पौधे को स्थानीय लोग 'तिएव-राकोट' कहते हैं। इसका अर्थ है - भक्षी पौधे का शैतानी फूल। भारत में पिचर पौधों की यही एकमात्र प्रजाति है और इस पर विलुप्ति का खतरा मण्डरा रहा है।

नपेंथिस एल्बोमार्जिनेटा - इस प्रजाति के कलश के मुँह पर एक सफेद पट्टी होती है जिस पर रोमनुमा रचनाएँ होती हैं। दीमकें भोजन के लालच में इन रचनाओं पर चढ़ जाती हैं और कलश में गिर जाती हैं। इस तरह से यह प्रजाति एक खास किस्म के शिकार की विशेषज्ञ है।

नपेंथिस एम्पुलेरिया - यह प्रजाति अपनी जीनस की अन्य प्रजातियों से बहुत अलग ढंग से विकसित हुई है। इस पौधे के घड़े का मुँह बन्द नहीं होता बल्कि सूखी पत्तियों व टहनियों के लिए खुला रहता है। यह प्रजाति इस मायने में विशिष्ट है कि कीटों की दावत उड़ाने के अलावा यह कचरा-भक्षी भी है - यह पौधों के झड़ते-गिरते पदार्थों से भी पोषण प्राप्त करती है।

नपेंथिस मिराबिलिस - इस प्रजाति का भौगोलिक फैलाव सबसे ज़्यादा है। इसकी पत्तियाँ बहुत बारीक होती हैं। मुँह के आसपास चौड़ा व चपटा पेरिस्टोम (मुँह को घेरे एक संरचना) इसकी विशेषता है।

नपेंथिस डिस्टिलेटोरिया - इस जीनस की यह पहली प्रजाति थी जिसका नामकरण लीनियस के वर्गीकरण के मुताबिक किया गया था। लिहाज़ा, यह इस जीनस की प्रारूपिक प्रजाति है। यह श्रीलंका की स्थानीय प्रजाति है।

खुले व धूपदार नम परिवेश कीटक्षभी पौधों के लिए अनुकूल होते हैं, खास तौर से ऐसे इलाकों में जहाँ मिट्टी में पोषक तत्वों की कमी हो और पीएच अम्लीय हो। यह इस समूह की विशेषता है कि ये पोषण के अभाव में फल-फूल सकते हैं। नम चरागाह (meadows) और पीट बॉग (दलदली इलाके) इन पौधों के लिए बढ़िया प्राकृतवास उपलब्ध कराते हैं। अलबत्ता, कुछ प्रजातियाँ

मीठे पानी के तालाबों में पाई जाती हैं जबकि कुछ प्रजातियाँ नम, रिसती हुई खड़ी चट्टानों पर चिपकी पाई जाती हैं। इसके अलावा कुछ प्रजातियाँ नम रेत और ऐसी जगहों पर भी पाई गई हैं जहाँ बार-बार आग लगती रहती है।

अब, जैसे इन्सानों को उनके हुनर के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है, उसी तरह मांसाहारी पौधों को भी इस आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है कि वे अपने शिकार को पकड़ने के लिए किस तरह के शिकंजे यानी ट्रैप का उपयोग करते हैं। कभी-कभी इनके नाम से ही सुराग मिल जाता है जैसे ब्लैडरवॉर्ट नाम से ही पता चल जाता है कि इनमें फूली हुई थैलियाँ (ब्लैडर) होती हैं जो सूक्ष्मजीवों और कीटों को फँसाने का काम करती हैं। फिर भी यह देखना दिलचस्प होगा कि ये कीटभक्षी पौधे कितनी तरह के शिकंजों का इस्तेमाल करते हैं। दरअसल, ये सारी रचनाएँ पत्तियों के रूपान्तरण हैं। इसके अलावा, शिकार पर प्रभाव की दृष्टि से दो तरह के शिकंजे देखे गए हैं - सक्रिय और निष्क्रिय। इस तरह के वर्गीकरण के लिए नीचे दी गई तालिका देखिए।

पोषण की इस शैली को लेकर वैज्ञानिकों में काफी जिज्ञासा रही है। यही तो उनके शिकंजों और प्राकृतवास के मूल में है। कई प्रयोगों के बाद चार्ल्स डारविन का मत था कि इन पौधों में जन्तुओं के समान तंत्रिका तंत्र होता है जो शिकार की हरकत को भाँप लेता है और इसकी वजह से कोशिका से कोशिका तक आवेगों की एक ृंखला शुरू हो जाती है। इसका अंजाम पत्तियों के पूरी तरह बन्द होने और फड़फड़ाते कीट के उनमें कैद हो जाने के रूप में सामने आता है। एक पादप-कार्यिकी विशेषज्ञ एलेक्ज़ेंडर वोल्कोव ने तो वीनस फ्लाईट्रैप को एक 'विद्युतीय पौधे' की संज्ञा तक दे डाली। प्रयोगों से यह भी पता चला कि किसी मृत कीट की बजाय किसी जीवित कीट के रोम पत्तियों को बन्द करवाने के आवेग को शुरू करवाने में

सक्रिय शिकंजे	निष्क्रिय शिकंजे
• संवेदनशील ट्रिगर रोम • चिपचिपे गोंद लगे सिरों वाले रोम (सनड्यू) • पत्तियों में जुड़वाँ फलक (वीनस फ्लाईट्रैप) • फूली हुई थैलियाँ (ब्लैडरवॉर्ट)	• चिपचिपी सतह वाली चपटी पत्तियाँ (बटरवॉर्ट्स) • पिटफॉल शिकंजा (पिचर प्लांट)

ज़्यादा कारगर होते हैं। वोल्कोव के प्रयोग से यह भी पता चला कि जब एक बार पत्ती किसी कीट को भाँप लेती है, तो वह बन्द इसलिए होती है क्योंकि पत्तियों की द्रवभरी नलिकाओं में आवेश या आवेग प्रवाहित होता है। यह आवेग कोशिका झिल्लियों पर उपस्थित छिद्रों को खोल देता है। कोशिकाओं के अन्दर से बाहर की ओर पानी के प्रवाह के कारण पत्तियाँ ऐंठकर घुँघराली बन जाती हैं और कीट को अपने अन्दर कैद कर लेती हैं।

कई मांसाहारी पौधों में विशेष ग्रन्थियाँ होती हैं जो कीटों के कठोर बाह्य कंकाल को पचाने में समर्थ एंज़ाइम्स का स्राव करती हैं। विशेष रूप से सज्जित कलश में एंज़ाइम्स का एक मिश्रण और मकरन्द होता है। मकरन्द कीट को आकर्षित करता है और फिर पत्ती/कलश की फिसलनभरी सतह के कारण कीट अन्दर की ओर मौत के शिकंजे में फिसल जाता है। कुछ प्रजातियों में कीट के अन्दर गिरने के बाद कलश का ढक्कन बन्द हो जाता है और साथ ही बन्द हो जाती है कीट की नियति। तदुपरान्त पौधे कीटों के शरीर से नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व अन्य पोषक पदार्थ प्राप्त करते हैं। इसके लिए ये पौधे एक जटिल क्रियाविधि का इस्तेमाल करते हैं जो उन पौधों से अलग होती है जो सौर-ऊर्जा की मदद से अपना भोजन तैयार करते हैं। यह सही है कि नाइट्रोजन व फॉसफोरस की कमी वाले प्रतिकूल पर्यावरण में जीने के लिए इन पौधों में वैकल्पिक पोषण का कार्यक्षम तरीका विकसित हुआ है मगर इसके लिए इस कार्यविधि में खर्च होने वाली ऊर्जा की दृष्टि से यह तरीका काफी महँगा है।

उत्तर अमेरिका के एक पिचर प्लांट के कलश के किनारे पर एक कीट

यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि ट्रैप में फँसने वाले कीटों को पचाकर पोषण प्राप्त करने के अलावा ये पौधे प्रकाश-संश्लेषण करने में भी समर्थ होते हैं। मगर सौर-ऊर्जा को कारगर ढंग से सोखने के लिए इनके पास अन्य पौधों के समान चपटी पत्तियाँ नहीं होतीं। लिहाज़ा, यह कहा जा सकता है कि कीटभक्षी पौधे सौर-ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में तब्दील करने में उतने कार्यक्षम नहीं होते। वे अपनी अधिकांश ऊर्जा कीटों को पकड़ने, उन्हें पकड़ने के लिए चिपचिपे रोम, पाचक एंज़ाइम बनाने वगैरह की व्यवस्था के निर्माण में खर्च कर देते हैं। इसका मतलब है कि उनके पास प्रकाश-संश्लेषण हेतु सौर-ऊर्जा के संग्रह की व्यवस्था बनाने के लिए कम ऊर्जा बचती है। फिर भी पोषक तत्वों की कमी वाली मिट्टी में ये पौधे पोषण प्राप्त करने की दृष्टि से सामान्य पौधों की तुलना में फायदे में रहते हैं। इसके अलावा, दलदली बॉग्स में धूप प्रचुर मात्रा में होती है। इसलिए थोड़ी कम क्षमता वाले मांसाहारी पौधे भी प्रकाश-संश्लेषण करके व शिकार पकड़कर मज़े में जी सकते हैं। दरअसल, ये पौधे अपने प्राकृतवास में पोषण की कमी की पूर्ति कीड़े पकड़कर और पचाकर कर लेते हैं जो इनके लिए पूरक आहार का काम करते हैं।

मांसाहारी पौधों में प्रजनन

इन मांसाहारी पौधों में से कुछ अलैंगिक प्रजनन करते हैं, कुछ लैंगिक। एक स्वाभाविक सवाल उभरता है कि उन मांसाहारी पौधों का क्या होता है जो लैंगिक प्रजनन करते हैं और जिनका परागण कीटों के द्वारा होता है। और वास्तव में अधिकांश मांसाहारी पौधों के फूलों को देखकर लगता है कि इनका परागण कीटों द्वारा ही होता होगा। तो ऐसे में वे परागण में मददगार कीटों और भोजन मुहैया करवाने वाले कीटों के बीच भेद कैसे करते हैं? लगता तो यह है कि वे हमेशा यह भेद कर पाने में सफल नहीं होते। कुछ प्रजातियों में परागण-कर्ता कीट भोजन के रूप में पकड़े जाते हैं।

हाँ, कुछ पौधों में ज़रूर इस समस्या से निपटने का अपना तरीका है - फूल और कीट पकड़ने के शिकंजे पौधे के अलग-अलग भागों पर स्थित होते हैं ताकि फूलों पर आने वाले कीटों (जो सम्भावित परागणकर्ता हैं) पर यह खतरा नहीं रहता कि वे पौधे का भोजन बन जाएँगे। ऐसी अटकलें भी लगाई गई हैं कि कुछ मांसाहारी पौधे शिकार को आकर्षित करने और परागणकर्ताओं को आकर्षित करने के लिए अलग-अलग समय पर गन्ध छोड़ते हैं। फूल और ट्रैप एक ही समय पर मोहक गन्ध नहीं छोड़ते। यह भी सम्भव है कि परागणकर्ताओं को पकड़ने वाले पौधों को भोजन के रूप में जो फायदा मिलता है वह परागण में हुए थोड़े नुकसान से ज़्यादा होता है।

आजकल कई जगह मांसाहारी पौधों को सजावटी पौधों की तरह बढ़ावा दिया जा रहा है। इनके समुचित विकास

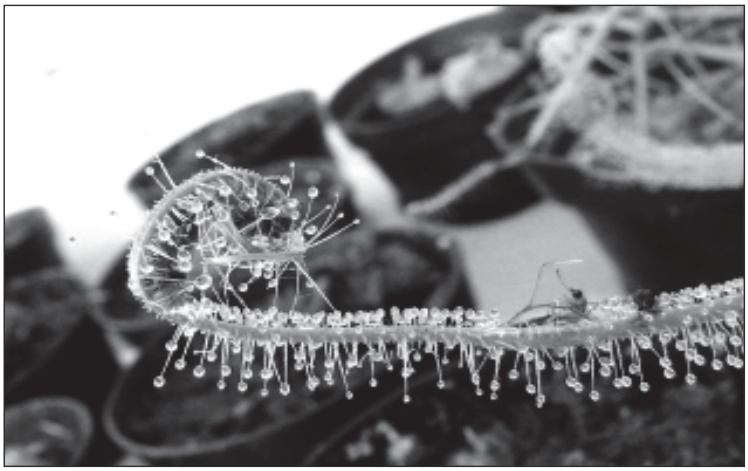

ड्रोसेरा में फँसा एक कीट

के लिए विशेष रूप से तैयार मिट्टी का उपयोग किया जाता है और तापमान व नमी का खास ध्यान रखना होता है। रोचक बात है कि भारत में अजीबोगरीब पौधों की बागवानी में बढ़ती रुचि के चलते ऐसी विशेष नर्सरियाँ अस्तित्व में आई हैं जो घरों व दफ्तरों को सजाने के लिए मांसाहारी पौधे उपलब्ध करवाती हैं। अब भारत में *नपेंथिस खासियाना* को ऊतक संवर्धन (टिशू कल्चर) के ज़रिए तैयार किया जा सकता है। देश के उत्तर-पूर्वी इलाकों में इसे एक सजावटी पौधे के रूप में बढ़ावा दिया जा रहा है।

मेघालय में खासी, जैन्तिया और गारो पहाड़ियों (जहाँ यह प्रजाति एंडेमिक है) के आसपास रहने वाली जनजातियाँ इस पौधे को अपने घर के आसपास लगाना पसन्द करती हैं। इससे कीटों पर नियंत्रण रहता है। इसे 'जैविक कीट नियंत्रण' कहना अतिशयोक्ति न होगी जिसके तहत परिवेश में कीटों के नियंत्रण के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया जाता है। आम तौर पर हम इस शब्द का उपयोग खेतों में नाशक कीटों के नियंत्रण के सन्दर्भ में करते हैं। क्या यह दिलचस्प नहीं होगा कि कीटभक्षी पौधों का उपयोग उन इलाकों में रोगजनक कीटों के नियंत्रण हेतु किया जाए, जहाँ तापमान व नमी इनकी वृद्धि के लिए अनुकूल हैं? घर की खिड़कियों में, गमलों में या बगीचे में लगे कीटभक्षी पौधे कीटों के लिए जानलेवा साबित होंगे।

भले ही ये पौधे अपने आप में अजूबा हैं या कीट नियंत्रण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, मगर कई मांसाहारी पौधे संकट में हैं। पर्यावरण में हो रहे बदलावों ने इन

पौधों को भी नहीं बख्शा है। दलदली बॉग्स में औद्योगिक अपशिष्ट छोड़े जाने की वजह से वहाँ नाइट्रोजन की मात्रा में तेज़ी से वृद्धि हुई है जो मांसाहारी पौधों के जीवन के लिए जानलेवा साबित हो रही है। इसके अलावा, व्यापारिक मकसद से चोरी भी इनके अस्तित्व के लिए खतरा बन गई है। हालात इतने बदतर हैं कि वनस्पति वैज्ञानिक आजकल किसी बिरली प्रजाति के पाए जाने की जगह को गोपनीय रखने लगे हैं। रिहायशी इलाकों के विकास के लिए बॉग्स व चरागाहों को हटाना या भर देना भी मांसाहारी पौधों की संख्या में गिरावट का कारण बन रहा है।

हरिकेश बहादुर सिंहः बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कृषि विज्ञान संस्थान के कवक विज्ञान व पादप रोग विज्ञान विभाग में प्रोफेसर हैं। hbs1@rediffmail.com

ऋचा रघुवंशीः बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के महिला महाविद्यालय में वनस्पति विज्ञान विभाग में सहायक प्राध्यापक हैं। richabhu@yahoo.co.in

अमृता सक्सेनाः बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग में शोध छात्र हैं। amrita.bhu08@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवादः सुशील जोशीः एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

लेख में ज़िक्र सन्दर्भों की पूरी सूची के लिए लेखकों से सम्पर्क करें।

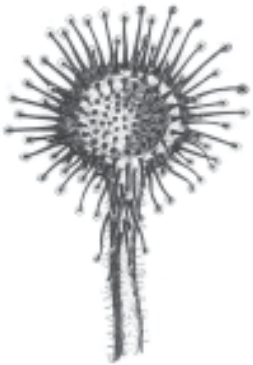

सवालीराम

सवालीराम: सूरज, चाँद और धरती क्यों हैं?

एक कलाकार द्वारा ब्रम्हाण्ड की कल्पना

जवाब: कोई नहीं जानता कि सूरज और चाँद और धरती क्यों हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि पृथ्वी इसलिए है ताकि हम उस पर ज़िन्दा रह सकें। वही लोग यह कहेंगे कि सूरज इसलिए है ताकि पौधे खुद के लिए और हम सबके लिए खाना उत्पन्न करने के लिए सूरज की रोशनी का इस्तेमाल कर सकें। और बिलकुल, यदि सूरज नहीं होगा तो दिन एवं रात नहीं होंगे और आपको यह पता नहीं चलेगा कि कब सोना है और कब उठना है। और चाँद इसलिए है ताकि आप उसके बारे में कविताएँ लिख सकें। ये लोग हमेशा यह सोचते हैं कि हर चीज़ का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है। वे लोग कहेंगे कि आपके पास कान इसलिए हैं ताकि आप धूप का चश्मा पहन सकें। इसे ही कहते हैं कि अब तो हद ही हो गई! हालाँकि, जैसा कि आप जानती हैं कि हमारे कान इसलिए नहीं होते ताकि हम धूप का चश्मा पहन सकें। हर चीज़ को किसी-न-किसी उद्देश्य के लिए इस्तेमाल तो किया जा सकता है लेकिन आप यह नहीं कह सकतीं कि यह चीज़ इस उद्देश्य के लिए ही बनाई गई थी या कि यह चीज़ इस उद्देश्य के लिए अस्तित्व में है।

कोई चीज़ अस्तित्व में इसलिए भी

रह सकती है क्योंकि उसे किसी और उद्देश्य के लिए बनाया गया था, या फिर किसी भी उद्देश्य के लिए नहीं बनाया गया था। बहुत-सी चीज़ें किसी घटना का परिणाम होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसा कहा जाता है कि सारे महाद्वीप पहले एक ही थे। एक अकेला महाद्वीप जो लाखों साल पहले अस्तित्व में था उसका नाम पेंजिया था। कुछ समय बाद पेंजिया टुकड़ों में बँट गया। यह सब संयोगवश हुआ था। और यह भी एक संयोग ही था कि पेंजिया के टुकड़े एक विशिष्ट आकार में हुए थे - दरअसल वह किन्हीं खास आकारों में नहीं टूटा था लेकिन आज हम सोचते हैं कि वह बहुत ही खास आकारों में विभाजित हुआ था। वह किन्हीं अन्य आकारों में भी टूट सकता था और हम तब भी यही बात कहते। जैसे यदि हम एक मिट्टी का खिलौना गिराएँगे तो वह कुछ आकार के टुकड़ों में टूट जाएगा। हालाँकि, यदि हम उसी खिलौने को फिर से गिराएँ तो वह बहुत अलग आकारों के टुकड़ों में टूट सकता है। आकारों के सन्दर्भ में 'क्यों' जैसा कुछ नहीं होता - वे ऐसे ही बनते/होते हैं।

अब यदि पेंजिया के ये टुकड़े द्रव

पेंजिया का टूटना

पर तैर रहे हैं तो वे बहेंगे - मतलब, वे यहाँ-से-वहाँ जाएँगे। इसलिए धीरे-धीरे वे एक-दूसरे से दूर जा सकते थे। या वे एक-दूसरे से टकरा भी सकते थे। दोनों तरह की चीज़ें हुईं और जब दो टुकड़े टकराए तो उनमें से एक अन्दर चला गया जबकि दूसरा वाला ऊपर उठता चला गया। और इस तरह हिमालय बना। तो हिमालय का बनना एक संयोग था। हम पूछ सकते हैं कि हिमालय क्यों है।

इसी तरह पृथ्वी, चाँद, सूरज और दूसरे सारे तारे अस्तित्व में आए थे। वैज्ञानिकों ने कई सिद्धान्त तैयार किए थे, यह समझाने के लिए कि ये सारी चीज़ें अस्तित्व में कैसे आईं लेकिन हम यह नहीं जानते कि इसका कोई उद्देश्य है या नहीं। बस इनका अस्तित्व है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, बहुत-सी चीज़ें जो हम अपने चारों तरफ देखते हैं वे कुछ संयोगवश हुई घटनाओं की वजह से हैं। हालाँकि, ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जो वैसी ही होती हैं जैसी उनको होना चाहिए क्योंकि प्रकृति के निश्चित नियम-कानून होते हैं जिस वजह से चीज़ें एक निश्चित तरीके से होती हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई चीज़ ऊपर की तरफ फेंकी जाए, वह अन्ततः धरती पर ही वापस आती है। इसलिए, ज़्यादातर चीज़ें धरती पर मिलती हैं, ऊपर हवा में नहीं। वैज्ञानिकों का मुख्य काम प्रकृति के नियमों को समझना है।

वैज्ञानिकों ने पृथ्वी, चाँद, सूरज, सौरमण्डल, तारे, आकाशगंगाओं आदि के अस्तित्व के बारे में काफी विचार किया है। इन चीज़ों के बारे में उनकी कुछ समझ भी बनी है। यदि इन चीज़ों के बारे में आप जानना चाहती हैं तो हमें फिर से लिखें।

यह सवाल अल कमर अकादमी, चेन्नई की सात वर्षीय शाहिदा द्वारा पूछा गया था जिसके लिए यह जवाब तैयार किया गया है।

अँग्रेज़ी से अनुवादः पारुल सोनीः 'संदर्भ' पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

इस बार का सवाल

सवालः पिछले फुटबॉल वर्ल्ड कप में एक ऑक्टोपस (पॉल बाबा) मैच जीतने वाली टीम की सटीक भविष्यवाणी कैसे करता था?

इस सवाल के बारे में आप क्या सोचते हैं, आपका क्या अनुमान है, क्या होता होगा? इस सवाल को लेकर आप जो कुछ भी सोचते हैं, सही-गलत की परवाह किए बिना हमारे पास लिखकर भेज दीजिए।

क्या चुम्बक की शक्ति खर्च भी होती जाती है?

स्ट्रोक को चुम्बक बनाना - बाल वैज्ञानिक से

ब्रजेश कुमार

बचपन में चुम्बकों को लेकर मेरे मन में भारी कौतुहल हुआ करता था, किस्म-किस्म के सवाल उठते थे। इनमें से प्रमुख था कि मुझे अक्सर लगता था कि किसी दूसरे लौह पदार्थ को चुम्बकित करने से चुम्बक की ताकत घटती है। मैं बचपन और किशोरावस्था में चुम्बक के साथ प्रयोग कर अपनी इन मान्यताओं को परख नहीं पाया था, मेरे मन के सवाल मन में ही रह गए।

पिछले साल एकलव्य द्वारा आयोजित विज्ञान प्रशिक्षण के दौरान एक सत्र में कई शिक्षकों ने अपने सवाल एवं जिज्ञासाओं को खुलकर सबके सामने रखा। तभी मैंने भी चुम्बक को लेकर अपने इस सवाल को सबके सामने रख दिया कि चुम्बक से किसी अन्य पदार्थ को चुम्बकित करने से मूल चुम्बक की ताकत कम होती है क्या।

शिक्षकों ने जो सवाल रखे थे उनमें से कुछ को जाँचने के लिए कुछ समूह बनाए गए जिनमें एक समूह हमारा भी था। हमारी टीम को चुम्बक की आकर्षण या विकर्षण शक्ति में ह्रास हो रहा है या नहीं, इसे जाँचने के लिए प्रयोग डिज़ाइन करने थे और प्रशिक्षण के अन्तिम दिन अपने अवलोकन और निष्कर्ष सबके सामने रखने थे।

हमारी टीम ने विचार-विमर्श कर तय किया कि यदि हमें चुम्बक की प्रारम्भिक शक्ति (आकर्षण या विकर्षण की) मालूम हो तो हम शक्ति में ह्रास हो रहा है या नहीं, यह पता करने की कोशिश कर सकते हैं। इसके लिए एक प्रयोग डिज़ाइन किया जो निम्नानुसार है।

हमने एक छड़ चुम्बक लिया और काफी दूर से इसके उत्तरी ध्रुव को एक कम्पास के उत्तरी ध्रुव की ओर करके धीरे-धीरे सरकाना शुरू किया। जैसे ही कम्पास में हल्का-सा विक्षेप हुआ, चुम्बक व कम्पास के बीच की दूरी को नाप लिया। यह दूरी 32 से.मी. थी। यह छड़ चुम्बक की प्रारम्भिक शक्ति की द्योतक थी। अब लगभग 5 से.मी. लम्बे साइकिल के स्पोक को छड़ चुम्बक के एक ध्रुव से 30 बार रगड़कर उसे चुम्बकित किया। हमने स्पोक चुम्बकित हुआ है या नहीं इसकी जाँच कम्पास से की। इससे स्पष्ट हो गया कि स्पोक के टुकड़े में कुछ चुम्बकत्व आया है।

अब हमने उस छड़ चुम्बक की एक बार फिर जाँच की लेकिन छड़ चुम्बक ने कम्पास को लगभग 32 से.मी. पर ही प्रतिकर्षित किया। हमारी टीम ने इस अवलोकन पर विचार किया। हमें लगा कि हो सकता है कि स्पोक को चुम्बकित करने में छड़ चुम्बक की ताकत में ह्रास इतना कम हुआ कि उसे माप पाना मुश्किल हो रहा है। इसलिए हमने अब सोचा कि क्यों न इसी प्रयोग को किसी कमज़ोर चुम्बक के साथ दोहराया जाए।

कमज़ोर चुम्बक बनाने के लिए हमने साइकिल के स्पोक के 6-6 से.मी. लम्बे 15 टुकड़े काट लिए और इन्हें पाँच-पाँच के तीन समूहों में बाँट लिया। पहचान के लिए इन्हें ए1, ए2, ए3 ,ए4 ,ए5, बी1, बी2, बी3, बी4, बी5, सी1, सी2, सी3, सी4, सी5 नाम दे दिए।

अब पूरे प्रयोग को इस तरह आगे बढ़ाया।

समूह - ए

स्पोक के 5 टुकड़े (ए1, ए2, ए3, ए4, ए5) छड़ चुम्बक की सहायता से चुम्बकित कर लिए। प्रत्येक स्पोक को चुम्बकित करने के लिए चुम्बक के एक ध्रुव से 20 बार रगड़ा गया। इनके सिरों पर उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पहचानने के लिए नेल पॉलिश से चिन्ह बना लिए। अब इन कमज़ोर चुम्बकों की शक्ति को चुम्बकीय कम्पास की मदद से नापा गया। यह इनकी प्रारम्भिक शक्ति का द्योतक था।

अब अगला कदम था इस समूह के स्पोक-चुम्बकों को विचुम्बकित करने के लिए इन्हें अलग-अलग पदार्थों पर 20-20 बार रगड़ना।

चुम्बक ए1 को लोहे पर।

चुम्बक ए2 को स्टील पर।

चुम्बक ए3 को एल्युमिनियम पर।

चुम्बक ए4 को पक्के फर्श पर।

चुम्बक ए5 को विचुम्बकित नहीं किया।

इन पाँचों चुम्बकों को डिब्बा नं. ए में रख दिया। यह डिब्बा पाँच खण्ड वाला था जिसमें प्रत्येक चुम्बक अलग-अलग इस प्रकार रखा गया कि सभी समान्तर रहें तथा एक का दक्षिणी ध्रुव एवं दूसरे का उत्तरी ध्रुव साथ-साथ रहें।

समूह - बी

स्पोक के 5 टुकड़े (बी1, बी2, बी3, बी4, बी5) छड़ चुम्बक की सहायता से चुम्बकित कर लिए। इस बार भी प्रत्येक स्पोक को चुम्बकित करने के लिए 20-20 बार रगड़ा गया। इनके सिरों पर उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पहचानने के लिए नेल पॉलिश से चिन्ह बना लिए। और फिर चुम्बकीय कम्पास की मदद से इन चुम्बकों की शुरुआती शक्ति का आकलन लगाया गया। अब इन्हें भी विचुम्बकित करने के लिए समूह 'ए' की तरह लोहे, स्टील, एल्युमिनियम, पक्के फर्श पर 20 बार रगड़ा गया और बी5 को यूँ ही छोड़ दिया।

इन पाँचों चुम्बकों को डिब्बा नं. बी में रख दिया। यह डिब्बा भी पाँच खाने वाला था जिसमें प्रत्येक चुम्बक अलग-अलग इस प्रकार रखा गया कि सभी समान्तर रहें तथा सभी के दक्षिणी ध्रुव एक ओर तथा उत्तरी ध्रुव दूसरी ओर रहें।

समूह - सी

स्पोक के 'सी' समूह के साथ भी उपरोक्त प्रक्रिया अपनाई गई। सिर्फ फर्क था इन पाँचों चुम्बकों को काफी दूर-दूर अनियमित ढंग से डिब्बे में रख दिया गया।

उपर्युक्त तीनों तरीकों में सब कुछ समान है केवल तीलियों के रखने के तरीके बदल दिए गए हैं। दरअसल हम यह देखना चाहते थे कि चुम्बकों की शक्ति में कमी उनके रखने के तरीकों पर निर्भर करती है या नहीं।

अब तीनों प्रयोगों का अवलोकन 24 घण्टे, 48 घण्टे और 72 घण्टे बाद किया। हर बार हमारे चुम्बकीय कम्पास की मदद से उस दूरी को नापने की कोशिश की जहाँ तक ये चुम्बक अपना आकर्षण या विकर्षण बल दिखा पा रहे थे।

इस प्रोजेक्ट को पूरा करने के उपरान्त हमने पाया कि हमारे अवलोकन अभी और स्पष्टता और सटीकता की माँग कर रहे हैं। या फिर हमें प्रोजेक्ट डिज़ाइन पर फिर से गौर करने की ज़रूरत है। हमने पाया कि विचुम्बकन के बाद तीली चुम्बक की शक्ति कम

हुई है, ऐसा प्रतीत होता है लेकिन अगले 48 या 72 घण्टों के बाद तीली चुम्बक फिर से शक्ति अर्जित करते हुए दिखते हैं। सच कहें तो हम लोगों का तो माथा चकरा गया लेकिन ऐसा क्यों हो रहा है समझ में नहीं आया। ये अवलोकन सचमुच में सही है क्या और अगर है तो ऐसा क्यों हो रहा है, इसका पता लगाना अभी शेष है। क्या आप हमारी कुछ मदद कर सकते हैं?

ब्रजेश कुमार: कानपुर की जागृति बाल विकास समिति में कार्यरत हैं।
टीम सदस्य: संजय (कानपुर), हेमन्त (भोपाल) एवं नारायन।

इसी मुद्दे से सम्बन्धित लेख 'संदर्भ' के अंक 15 (जनवरी-फ़रवरी 1997) में 'चुम्बक, मैं और वह शिक्षक' देखिए।

इस अनुभव को पढ़कर हो सकता है ऐसा आभास मिले कि किसी चुम्बक द्वारा किन्हीं अन्य लौह पदार्थों को चुम्बकित करने से चुम्बक की शक्ति घटती है। परन्तु दरअसल लोहे, कोबाल्ट, निकिल या मिश्र धातुओं से बने स्थाई चुम्बक से किन्हीं लौह पदार्थों को चुम्बकित करने से चुम्बक की शक्ति में ह्रास नहीं होता। स्थाई चुम्बक का चुम्बकत्व सामान्य हालात में स्थाई होता है।

यहाँ इस बात को भी समझना होगा कि किसी भी चुम्बक में चुम्बकीय बल सूक्ष्म स्तर पर ज़्यादातर डोमेन की लगभग एक ही दिशा में जमावट की वजह से होता है। इसलिए जब किसी चुम्बक को विचुम्बकित करते हैं तो इसके मायने होते हैं कि उस चुम्बक के डोमेन की दिशा-विशेष जमावट को रेंडम या विविधता-पूर्ण बनाया जा रहा है।

चुम्बक को विचुम्बकित करने का एक तरीका है चुम्बक को उसके क्यूरी तापमान तक गरम करना। क्यूरी तापमान वो तापमान है जहाँ डोमेन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने से फैरोमेग्नेटिक पदार्थों का चुम्बकत्व एकदम से कम होने लगता है। अलग-अलग फैरोमैग्नेटिक पदार्थों के लिए क्यूरी तापमान भी फर्क होता है। मसलन, लोहे के लिए 770 डिग्री सेल्सियस तो कोबाल्ट के लिए 340 डिग्री सेल्सियस।

चुम्बक को हथौड़ी से ठोकने पर भी विचुम्बकत्व की बात कही जाती है लेकिन जैसा ऊपर कहा गया है शायद स्थाई चुम्बकों में ऐसा नहीं होता। बेहद कमज़ोर चुम्बक को हथौड़ी से पीटने पर शायद पदार्थ को ज़ोर-से झकझोरने से डोमेन-व्यवस्था पर एवं उसके फलस्वरूप उसके चुम्बकत्व पर असर पड़ सकता है। किसी स्थाई चुम्बक से कई लौह पदार्थों को चुम्बकित करने के बाद मूल चुम्बक की शक्ति में वास्तव में कोई कमी आएगी या नहीं, इसे परखने के कुछ अन्य तरीके सोचने होंगे।

– संकलित

शिक्षण में थिएटरः एक अनुभव

अनिल सिंह

शिक्षण में थिएटर (नाट्य संयोजन) कोई नया विषय नहीं है, बल्कि इसे शिक्षण का अभिन्न और अनिवार्य विषय कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। *द अमेरिकन एसोसिएशन ऑफ स्कूल एडमिनिस्ट्रेटर्स, द अलाइंस फॉर एजुकेशन*, और *जॉन एफ कैनेडी सेंटर फॉर द परफॉर्मिंग आर्ट्स* ने 1985 में एक पेपर प्रकाशित किया था, जिसमें कहा गया है कि "हमारे देश का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि हम मौलिक सृजन करने और सृजनशील बनने में कितने सक्षम हैं।" थिएटर किसी भी व्यक्ति को क्रिएटिव बनाने का सबसे अच्छा माध्यम है।

भोपाल में अतिवंचित समुदाय के बच्चों की शिक्षा के लिए काम करने वाली संस्था 'मुस्कान' के साथ काम करते हुए, बच्चों के एक आवासीय

शैक्षणिक शिविर में थिएटर की गतिविधियों के माध्यम से मैंने काफी कुछ सीखा। शिविर में 8 से 14 साल की उम्र के 25 लड़के-लड़कियाँ थे और यह तकरीबन 15 दिन चला।

आवासीय शिविर में हमने थिएटर की गतिविधियों के लिए सामान्य चर्चा से लेकर संवाद और अभिनय तक का एक सहज क्रम बनाया और चरणबद्ध तरीके से काम किया। आइए उन चरणों की बात करते हैं।

तरह-तरह की आवाज़ें

तरह-तरह की आवाज़ें निकालने से आवाज़ें सुनने, उन पर ध्यान देने और उनका सम्बन्ध अन्य क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से जोड़ पाने का हुनर विकसित हो पाता है। प्रतिभागियों ने रेल, बारिश, हवा, कुत्ता, गाय, कोयल की आवाज़ों के साथ ही विभिन्न फेरीवालों (सब्ज़ी, आईस्क्रीम, रद्दी वालों), ट्रैफिक पुलिस, क्लास टीचर की आवाज़ व उनकी शैली अपनाने की कोशिश की। ब्रजेश ने बताया कि उसके गाँव में बर्तनों पर कलई करने वाला आता था जो बिलकुल अलग तरह की आवाज़ करता था, ई ईईईईईई कलई ईईई करवालो ओओओ...

इस सत्र की शुरुआत मैंने अपने अनुभव के साथ ही की - *एक बार कक्षा-3 में शनिवार की बालसभा में सुनाने के लिए 'बड़े सबेरे मुर्गा बोला' कविता तैयार की। पर जब सुनाने की बारी आई और सबके सामने खड़ा हुआ तो मुँह से बोल ही नहीं फूटे। मुर्गा अन्दर ही अटक गया, फँस गया। वह बाहर ही नहीं निकला। बड़ी बेचैनी हुई। बाद में बहुत अभ्यास और कोशिशें कर दो महीने बाद की बाल सभा में कविता सुना पाया।* इस उदाहरण के बाद तो हिचक, झिझक, अभिव्यक्ति पर चर्चा के साथ-साथ, अपनी बात कह पाने के लिए, 'मुर्गे को बाहर निकालना' का मुहावरे की तरह प्रयोग होने लगा।

इसके अलावा निरर्थक आवाज़ों का भी अभ्यास किया जो उनके मन के अलग-अलग भावों व हिचक के स्तरों से प्रभावित रहीं। इस तरह के अभ्यास ने उन्हें भीतर से बाहर की ओर आने में मदद की। जैसे एक गतिविधि में सबको बारी-बारी से कोई एक आवाज़

निकालते हुए घेरे का एक पूरा चक्कर लगाकर वापस अपनी जगह पर आना था। कोई 'ऊ' तो कोई सिर्फ 'ई' की आवाज़ को लम्बा खींचते हुए दम साधे गोल चक्कर काटता रहा। इससे उन्हें अपनी ही आवाज़ सुनकर खुलने में मदद मिली।

शारीरिक मुद्रा

शरीर अभिव्यक्ति में जितना सहायक है उतनी ही बाधा भी बनता है। शरीर सामान्यतया जिन स्थितियों और मुद्राओं के प्रति अनुकूल नहीं होता उनको करना कठिन मान लेता है। जैसे, सीधे खड़े रहने, सामान्य रूप से बैठने, लेटने या चलने से इतर मुद्राओं के लिए शरीर को तैयार करना हो तो वह संकुचित होना चाहता है और इससे अभिव्यक्ति का संकट पैदा हो जाता है।

शारीरिक मुद्राओं के अभ्यास के दौरान शरीर को गेंद की तरह गोल लुढ़काने की बारी आई तो ज़्यादातर लोग अड़ गए। न गोल हुए, न लुढ़के। लेकिन धीरे-धीरे शरीर का संकुचन खत्म हुआ। कई बार हमें ही नहीं मालूम होता कि हम अपने शरीर को कितनी तरह से इस्तेमाल कर सकते हैं, कितनी मुद्राएँ गढ़ सकते हैं और इससे क्या-क्या अभिव्यक्त कर सकते हैं। अन्दर और बाहर, दोनों तरफ की बाधाएँ टूटती हैं। शरीर की लय के साथ अभिव्यक्ति भी प्रखर हो जाती है।

सभी को पर्ची में मिले नाम के अनुसार खुद को प्रस्तुत करना था। कोढ़ी, अपाहिज, साँप, स्कूटर, कुर्सी, घर, दरवाज़े की अभिव्यक्ति में शरीर को ढाल कर प्रतिभागियों ने अपने ही भीतर नई सम्भावनाओं को तलाशा और पाया।

जब एक कुत्ता ठण्ड के मारे यहाँ-वहाँ छुपने की जगह ढूँढ़ता है और सब कहीं से भगाया जाता है तो किसी कोने में दुबक जाता है और पेशाब लगने पर दीवार के कोने में ही टांग उठाकर पेशाब करता है। उस कुत्ते की तरह शरीर को ढालने पर कुत्ते की हालत पर और तरस आया। अब तो कुछ भी बन सकता हूँ।

-राजा (गंगा नगर)

कोई लाठियाँ बरसा रहा हो और आपको बस बचना है किसी तरह। डर भी है, फुर्ती भी है। आप कैसे-कैसे अपने शरीर को मोड़ते, दुबकते, भागते, पलटते हैं। यह एक्ट करके मुझे बड़ा मज़ा आया। मैंने अपने से इसे बनाया और उसके बाद से लगता है कि बस नाटक ही नाटक करूँ।

- मोनू (बापू नगर)

भावमुद्रा

शरीर की ही तरह चेहरे पर भी भावों की एक मर्यादा-सी बन जाती है। अक्सर हम चेहरे के माध्यम से भावों को उच्चतम बिन्दु तक व्यक्त नहीं करते। कई बार सिर्फ काम चलाते हैं। चेहरे के भावों को हम साधे रखते

हैं। यह हमारी अभिव्यक्ति सहित, हमारे पूरे व्यक्तित्व में परिलक्षित होता है।

अलग-अलग चेहरे बनाना, चेहरों पर अलग-अलग भावों की अभिव्यक्ति लाना, उनमें तीव्रता-गहराई और नाटकीयता पैदा करना - हमारे सम्पूर्ण प्रस्तुतिकरण और प्रकटीकरण को प्रभावशाली बनाता है।

बच्चों ने दुख, डर, खुशी, आश्चर्य, नफरत, प्रेम, चोरी-चालाकी के भावों को अनायास चेहरे पर लाने के लिए खुद को एक काल्पनिक परिस्थिति में डालने और अपने भीतर उससे सम्बन्धित पात्र गढ़ने का अभ्यास किया।

दृश्य संयोजन

थिएटर की गतिविधियों में वैसे तो कई तरह के अभ्यासों का महत्व है, लेकिन दृश्य संयोजन एक विशिष्ट कौशल है। यह तार्किकता, तत्परता, आपसी सहकार व समायोजन, स्थान, प्रकाश और गति की समझ व सन्तुलन को सुदृढ़ करने वाला अभ्यास है। इसे समूह-कार्य की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माना जाता है।

प्रदर्शन कला में थिएटर ही है जो दर्शकों के समक्ष जीवन्त रूप में आता है और दर्शकों से प्रभावित भी होता है, साझेदारी में रहता है।

इस अभ्यास में विभिन्न समूहों को काल्पनिक स्थितियाँ बताई गईं। प्रत्येक स्थिति को थोड़ा विस्तार में प्रस्तुत किया गया ताकि उसके विभिन्न पहलुओं के बारे में सोच-विचार किया जा सके। यह कहा गया कि स्थिति के अनुसार पात्र चुनने हैं, दृश्य तैयार करना है और संवाद भी रचने हैं।

रात में बस स्टैण्ड में खाने की होटल तलाशते परदेशी मुसाफिर और अकड़ू पुलिसवाले के बीच मतभेद का दृश्य प्रतिभागियों ने ज़बरदस्त कल्पना-शीलता और व्यवहारिक समझ से गढ़ा और विकसित किया।

वीरेन्द्र ने होटल वाले की भूमिका अख्तियार की और अपने पड़ोसी दुकानदार से जो संवाद किए वे उसकी व्यवहारिक समझ का बेजोड़ नमूना था। उसने पुलिस, रात की दिक्कत, कर्मचारियों की परेशानी, महँगाई जैसे मसलों पर चुटीले संवाद बनाए। उसने संवाद गढ़ते हुए कहा, "*लोग समझते हैं कि होटल के काम में बड़ा मुनाफा है, पर कितनी दिक्कते हैं यह हमें ही मालूम है। अभी वो मुफत में खाने वाला ठुल्ला सिपाही आता होगा। भरपेट खाके बोलेगा रात के 10 बज गए हैं, चलो दुकान बन्द करो। अब कैसे धन्धा करें?*"

साथ ही पड़ोसी दुकानदार से बात करते हुए पूरे बाज़ार का दृश्य और प्रभाव स्थापित कर दिया। प्रीति, रानी, गोपी और ब्रजेश ने मुसाफिरों के अजनबीपन, रात के डर, होटल की तलाश को बखूबी पेश किया। बंटी ने पुलिसवाले की भूमिका निभाते हुए अपने अनुभव और समझ का इस्तेमाल

किया। देर रात तक होटल खुला रखने के लिए होटल वाले को घुड़की देते और परदेशी मुसाफिरों पर रौब जमाते समय बंटी, बंटी था ही नहीं, शायद किसी देखे हुए अकड़ू और गुस्सैल पुलिसवाले का चरित्र उसने आत्मसात कर लिया था। उसने कहा, "*इतनी रात गए कहाँ घूम रहे हो तुम लोग? पुलिस से होटल का पता पूछते हो, मैं कोई रिक्शा वाला हूँ क्या? साले चोर-उचक्के लगते हो। बन्द कर दूँगा थाने में।*"

पड़ोसी दुकानदार दयाशंकर और परदेशी मुसाफिरों ने पुलिसवाले के लिए जिस तरह जगह बनाई वह एक अच्छे ग्रुप-वर्क और समायोजन का उदाहरण रहा।

दृश्य संयोजन में एक-दूसरे को जगह देना, सवालों के जवाब देना, घटना को आगे बढ़ाना, दृश्य को नाटकीय दृष्टि से खड़ा करना आदि कौशल विकसित होता है, जो आम जीवन में, लोक व्यवहार में भी देखने को मिलता है ।

'लड़की पढ़ना चाहती है और उसने शादी से इन्कार कर दिया है' वाले दृश्य में भी कमाल का संयोजन दिखा। राजा, माधव, निर्मला, अजय, वर्षा, रानी, गोपी ने खुद में ही रोल का बँटवारा किया और पहला दृश्य बनाया। फिर तो बस बढ़ाते ही चले गए और सबको उनके हिस्से का अभिनय करने का पर्याप्त मौका मिला। जब लड़की को देखने वाले घर आए तो लड़की बनी वर्षा ने माँ से कहा, "*माँ, मैं अभी शादी नहीं करना चाहती। मेरे साथ की सभी लड़कियाँ आगे की पढ़ाई कर रही हैं। चाहे कुछ भी हो जाए, मुझे*

भी पढ़ना है।"

लड़की की माँ की भूमिका को निर्मला ने अपनी गम्भीरता से जीवन्त बनाया और लड़की की पढ़ने की चाहत को पूरी तरजीह दी। पति बने अजय ने उसकी वकालत की और लड़के पक्ष को अपनी तरफ से मना किया कि अभी लड़की पढ़ना चाहती है, शादी नहीं करना चाहती। घर में बैठकर शादी-ब्याह की बातचीत करने, बातों में तथ्य डालने और दृश्य को प्रभावशाली बनाने में सबने अपनी-अपनी समझ का इस्तेमाल किया। राजा ने पत्नी को मोटर साईकिल पर बैठाकर लड़की वालों के यहाँ जाने का बढ़िया स्वांग किया और दृश्यों की बारीकियों का भी बखूबी ध्यान रखा। माधव ने राजा की पत्नी की भूमिका अदा की। उसने दुपट्टे का प्रयोग कर पात्र गढ़ा। राजा ने परिवार के मुखिया का रोल लिया और परिपक्व संवाद रचे।

उसने कहा, "*वो तो ठीक है निर्मला जी लेकिन इतना अच्छा रिश्ता दोबारा नहीं मिलेगा। फिर भी आप कहती हैं तो मैं लड़के से दो-तीन साल और इन्तज़ार करने के लिए कहता हूँ, शायद मान जाए।*"

प्रतिभागियों के साथ दृश्य संयोजन के अभ्यास ने उन्हें स्थितियों के विश्लेषण, अपनी-अपनी दक्षताओं के आधार पर ज़िम्मेदारियों का वितरण और दृश्य की प्रभावकारिता की दृष्टि से अपनी स्थिति का निर्धारण करने का कौशल सिखाया।

वस्तुओं का रचनात्मक इस्तेमाल

थिएटर गतिविधि में यह अभ्यास एक बँधे हुए ढाँचे को तोड़ने एवं कल्पनाशीलता व रचनाशीलता को बढ़ाने की क्षमता विकसित करने में मदद करता है। एक डण्डी को, उसकी रूढ़ छवि तोड़कर, नई दृष्टि एवं उपयोगिता से देखना और उसे अभिनय करके दिखाना, जड़ता को तोड़ने वाला और रचनात्मकता को बढ़ाने वाला रहा। माँग के अनुरूप उसे कभी छाता, कभी कलम, कभी मोटर साईकिल का हैंडल, कभी टॉर्च, तो कभी खुरपी की तरह इस्तेमाल करके प्रतिभागियों ने अपनी दृष्टि को विस्तार दिया।

नाटक के दौरान एक ही सामग्री को अलग-अलग तरह से इस्तेमाल करना, उसे उसी रूप में महसूस करना और उसका प्रभाव पैदा करना एक विशिष्ट कौशल है और यह अभ्यास

से आता है। इससे परिस्थिति के अनुरूप, समायोजन और शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता का विकास होता है। कल्पना को भी विस्तार मिलता है। हर बार समूह के बीच गोले में एक नई वस्तु रखी गई। कभी डण्डी, तो कभी चप्पल, कभी किताब, कभी गमछा और कभी थाली। बारी-बारी से सभी को बीच में आकर उस वस्तु के साथ एक अभिनय करना था जिसमें उसे उसके पारम्परिक उपयोग से इतर रूप देना था। थाली को कार का स्टीयरिंग व्हील मानकर उसे उसी अन्दाज़ में घुमाते हुए गुड़िया ने अपनी कल्पनाशीलता का ज़बरदस्त परिचय दिया।

गवली ने गमछे को स्टेथोस्कोप बनाकर ज़बरदस्त प्रयोग किया। उसने गमछे को गले में डालकर धड़कन सुनने की जो भाव मुद्रा बनाई, उससे गमछे जैसी बेढब चीज़ में उपयोग किए जाने की नई सम्भावनाएँ पैदा हुईं।

त्वरित संवाद रचना

जब किसी परिस्थिति के तहत तुरन्त संवाद रचने की ज़रूरत पड़ती है तो आप अपनी संकलित जानकारी, अनुभव और समझ के आधार पर प्रतिक्रिया देते हैं। उस थोड़े-से समय में भी स्थिति का विश्लेषण करते हुए यह विचार करते हैं कि यह स्थिति क्यों और कैसे बनी, ऐसे में मुझसे क्या प्रतिक्रिया अपेक्षित है। इस पूरी कवायद से आपमें स्थिति को समझने और तार्किक रूप से सोच पाने का पैनापन आता है। परिस्थिति और ज़रुरत के अनुरूप संवाद गढ़ना आपको सबके समक्ष अपना मत और अपनी बात रखने का बल देता है।

उदाहरण के लिए एक काल्पनिक स्थिति बनाई गई कि निर्मला और गुड़िया अपने बच्चों को लेकर शिक्षा अधिकार कानून के तहत 25 प्रतिशत के आरक्षण वाले प्रावधान में एक बड़े निजी स्कूल में बच्चे का दाखिला कराने जा रही हैं। वीरेन्द्र को अचानक उनसे बात करने के लिए त्वरित संवाद रचने को कहा गया। वीरेन्द्र ने कहा, "*अरे कहाँ जा रही हो बहन? ये सब छलावा है। मैंने भी पिछले साल अपने दोनों बच्चों का दाखिला कॉन्वेंट में कराया था, पर क्या हुआ? वही रोज़-रोज़ की परेशानी। कभी ये लाओ, तो कभी वो लाओ। हर दिन के लिए अलग-अलग जूते, मोज़े, ड्रेस, स्वेटर, खेल के कपड़े। कभी ये फीस, तो कभी वो फीस। मैं तो तंग आ गया। बच्चे भी रोज़-रोज़ के तानों से परेशान हो गए। वहाँ टीचर उन्हें झुग्गीवाले कहकर बुलाते हैं। बच्चों ने भी कह दिया कि हम उस स्कूल नहीं जाएँगे। अपनी बस्ती के पास वाले सरकारी स्कूल में जाएँगे। बाकी साथी भी वहीं पढ़ते हैं। हमें तो सरकार से अपने इसी स्कूल को ठीक करने की माँग करनी चाहिए।*"

इस मुद्दे पर समूह में अच्छी चर्चा हुई थी। पर त्वरित संवाद बनाने में वीरेन्द्र ने अपनी राजनीतिक समझ का पूरा इस्तेमाल किया और अपनी

बात रखी।

ऐसे ही एक अभ्यास में बच्चों का एक समूह स्कूल बन्द होने पर पास ही में रहने वाली शिक्षिका के घर चाबी लेने जाता है। शिक्षिका के पति कहते हैं कि मैडम तो काफी देर की गई हुई हैं। बच्चों को त्वरित संवाद रचने थे। धर्मेन्द्र ने कहा, "*पर हम तो स्कूल से ही आ रहे हैं। वहाँ तो ताला है।*" दूसरा बच्चा गोपी वहाँ से निकलते ही कहता है, "*मैडम स्कूल की छुट्टी मारके डीबी मॉल घूमने गई होंगी।*" प्रीति कहती है, "*9 बजे का स्कूल 11 बजे तक भी नहीं खुला है तो अब क्या खुलेगा।*"

बच्चे अपने मन की बात तो कह ही पा रहे हैं, साथ ही उस खास स्थिति का विश्लेषण भी कर रहे हैं।

डॉयलाग डिलिवरी

शब्दों का शुद्ध उच्चारण और वाक्यों को व्याकरण-सम्मत ढंग से बोलना एक ऐसा अभ्यास है जो हमें साहित्य से जोड़ता है और उसका रस ले पाने की राह सुगम बनाता है। बोली को मातृभाषा के रूप में इस्तेमाल करना और खड़ी बोली का माहौल आस-पास न होना, इनका लिखित हिन्दी स्वरूप से फासला बढ़ाता है। ऐसे में इन बच्चों के बीच यह अभ्यास थोड़ा कठिन और अरुचिकर हो सकता था लेकिन गतिविधियों से उसे जीवन्त बनाने का प्रयास किया गया।

'स' और 'श' में भेद, अनुस्वार

का अनुपालन, आधे एवं संयुक्ताक्षरों की प्रकृति को समझना और बोल पाना, कम प्रयोग होने वाले शब्दों को ठीक तरह से प्रस्तुत करना आदि।

बोर्ड पर लिखकर इन अक्षरों के प्रयोग और शब्दों की रचना पर सामूहिक गतिविधि के साथ काम किया गया। बच्चों को इन अक्षरों वाले नाम और शब्द ढूँढ़ने थे, फिर बारी-बारी से उन्हें बोलकर एक-दूसरे की मदद से उन्हें सुधारना था। वाक्यों में प्रयोग कर उसे पक्का करना था। लम्बे संवादों के ज़रिए इसका अभ्यास किया गया। लिखित सामग्री को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने वाला अभ्यास भी काफी असरकारी रहा। हालाँकि, काफी सारे बच्चे ऐसे थे जो प्रवाह में नहीं पढ़ पा रहे थे पर अन्दाज़ लगाने और वाक्य संरचना की दृष्टि से सही तुक भिड़ाने में उन्हें महारत हासिल थी।

इस पूरे क्रम में हर बच्चे के पास करने के लिए काफी काम रहा। गतिविधियों ने हर बच्चे को छुआ। किसी को बोलना, किसी को मुँह बनाना, किसी को समूह में काम करना, किसी को नकल करना, किसी को अभिनय करना, किसी को शरीर की लोचशीलता का इस्तेमाल करना, किसी को गीत गाना, तो किसी को चुप रहकर सबका साथ देना भाया।

इन सभी नाट्य गतिविधियों की सीख और अभ्यास ने नाटक की तैयारी में खूब मदद की और सभी ने उसका आनन्द भी लिया।

शिक्षा के माध्यम से हम जिस सर्वांगीण विकास और जीवन कौशल की अपेक्षा करते हैं उसके तमाम तरीके और साधन हो सकते हैं। उनमें थिएटर एक ऐसा जीवन्त माध्यम है जिसमें ये सब सम्भावनाएँ मौजूद हैं। शरीर की लय-ताल, मुखमुद्रा, आवाज़ और भाव - यही सब संसाधन होते हैं और उनके संयोजन से ही अभिव्यक्ति की स्पष्टता और प्रखरता बनती है। यह कौशल जीवन के अनगिनत अवसरों पर काम आता है और आत्मविश्वास को एक मज़बूत धरातल व ऊँचाई देता है। थिएटर गतिविधियों में प्रतिभागी बहुत-से कौशल विकसित कर पाते हैं और मनुष्य की प्रदर्शन की सहज भूख को भी सन्तुष्ट कर पाते हैं।

अभी हाल ही में खबर आई है कि सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकण्डरी एजुकेशन (सीबीएसई) इसी सत्र से 11वीं और 12वीं क्लास में ऐच्छिक विषय के रूप में थिएटर स्टडीज़ शुरू करने जा रहा है। 11वीं में अधिकांश ज़ोर थ्योरी पर होगा और 12वीं में प्रैक्टिकल पर ध्यान दिया जाएगा, जिसके अन्तर्गत विद्यार्थियों को स्टेज-नाटक और नुक्कड़-नाटक करने होंगे। इसके लिए बनी विशेषज्ञों की कमेटी पाठ्यक्रम तैयार कर रही है।

अब देखना यही है कि पाठ्यक्रम के औपचारिक रूप से जोड़े जाने पर इस विधा की सम्भावनाएँ भी कहीं रटे-रटाए सवाल-जवाब और करने के लिए चन्द प्रायोगिक अभ्यास में तब्दील होकर न रह जाएँ। यह सदैव एक चर्चा का विषय रहा है कि औपचारिक ढाँचों में जुड़ने पर सम्भावनाएँ बढ़ती हैं या फिर सीमित हो जाती हैं।

अनिल सिंह: वंचित तबके के बच्चों के साथ काम करने वाली संस्था 'मुस्कान' के साथ लम्बे समय तक काम किया है। वर्तमान में आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल, भोपाल से जुड़े हैं। कहानी प्रस्तुति में विशेष रुचि।

सभी चित्र: हीरा धुर्वे: भोपाल की गंगा नगर बस्ती में रहते हैं। चित्रकला में गहरी रुचि। साथ ही 'अदर थिएटर' रंगमंच समूह से जुड़े हुए हैं।

www.eklavya.in

Eklavya's New Publication

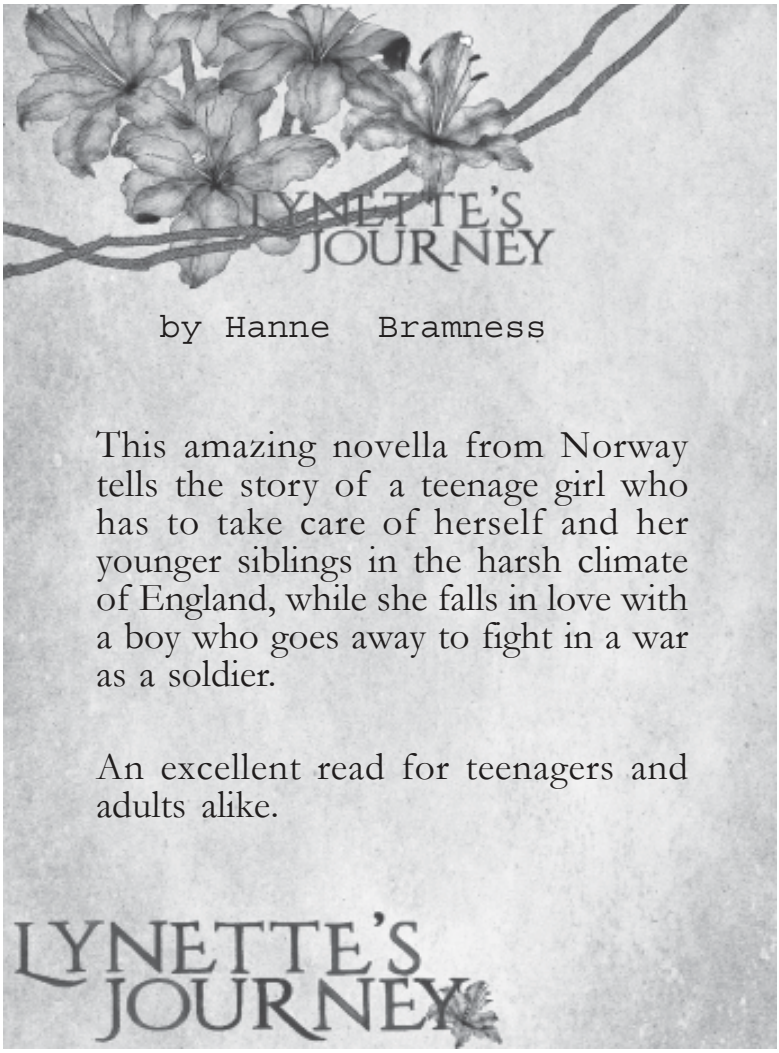

Pb 160 / Price: ₹ 110.00

ISBN: 978-93-81300-73-2

Order your copies at pitara@eklavya.in

बचपन से .....

बचपन तक.....!

संघमित्रा आचार्य

कुछ वक्त से बच्चों के साथ समय बिताने का मौका ढूँढ़ रही थी। अपने बचपन के बारे में सोचा तो 'टी.वी.', 'सिनेमा', 'परदे के पीछे की कहानियाँ', 'फोटो खींचना और खिंचवाना' से सम्बन्धित कुछ अनुभव याद आ गए। मैं इन सारी चीज़ों से आज भी जुड़े रहना पसन्द करती हूँ। ऐसे कितने ही अनुभवों को एकजुट करके एक सीख निकालना मुश्किल है, परन्तु जब आप किसी और को वैसे दौर से गुज़रते देखते हैं तो शायद उस उम्र की भावनाओं में दोबारा, यानी 'फ्लैश-बैक' में जाने का मौका मिलता है।

जब 'शाहपुर, उर्दू शाला क्रमांक 10' की कक्षा 3 व 4 के बच्चों के साथ मैंने अपनी रुचि की एक गतिविधि करवाने के बारे में सोचा तो 'फोटोग्राफी' ही पहला शब्द था जो मेरे दिमाग में आया। जब मैंने हेडमास्टर से इस गतिविधि के बारे में चर्चा की तो वे बेहद खुश हुईं, मगर मेरी ज़्यादा उत्सुकता तो यह जानने में थी कि जब बच्चों को इस बात का पता चलेगा तो उनकी प्रतिक्रिया कैसी होगी।

प्रतिक्रियाएँ और भागीदारी

इतनी उत्तेजित होने वाली बात तो शायद नहीं थी क्योंकि आजकल के बच्चे 'टेक्नोलॉजी' में काफी आगे बढ़ चुके हैं, मगर इस विषय पर चर्चा शुरू करने पर इन बच्चों के चेहरे पर उत्साह सच में देखने लायक था।

मैंने बच्चों से पूछा, "आपने फोटो कब और कहाँ देखी है?"

बिलाल, समीर, फातिमा और प्राय – सब एक साथ खड़े हो चिल्ला उठे, "एल्बम में, दीवार पे, जंगल की, बचपन की, टीचर की,...आदि।" मैंने भी कुछ देर तक उन्हें एक-साथ चिल्लाने दिया क्योंकि मैं उस उत्तेजना को रोकना नहीं चाहती थी।

जब 'कैमरे' के बारे में पूछा तो सब-के-सब फिर एक साथ बोल उठे, "स्टूडियो में खिंचवाई थी, माँ-पप्पा के साथ।"

अब की बार मैंने एक नियम बना

दिया, "जो भी बोलना चाहता है वह पहले हाथ खड़ा करेगा और बाकी सब शान्ति से उसकी बात सुनेंगे। फिर हममें से कोई और कुछ बोलना चाहे तो हाथ खड़ा करे (हर बार उन्हें इस नियम को याद दिलाना भी एक नियम बन गया था मेरे लिए)।"

हाँ, तो 'कैमरे' के बारे में पूछते ही बिलाल बोला, "मैंने तो बम्बई मैं खिंचवाई थी, जंगल की खूब सारी फोटू ली थी हम लोगों ने। मेरे पप्पा के पास है एक छोटू कैमरा।" बिलाल को बम्बई के बारे में काफी कुछ पता था और उसके सारे उदाहरणों में 'बम्बई' ज़रूर आ टपकता। बाकी बच्चों से भी कुछ सुने हुए उदहारण ही मिल रहे थे। मैंने उनसे पूछा, "अगर आपको एक कैमरे के साथ अकेला छोड़ दिया जाए, तो आप कैसी तस्वीरें खींचना चाहेंगे?" उनके उत्तर (मेरी नज़र में) तो अजीब ही थे, "खाली ब्लैक-बोर्ड की, स्कूल के पीछे की दीवार की, पढ़ते हुए बच्चों की, बाहर से स्कूल बोर्ड की, ए-बी-सी-डी... की, खाली क्लास की, ...आदि।"

बिलाल बोला, "मैं तो शेर की लूँगा। हम सभी पिकनिक में बाहर जाएँगे गार्डेन में, और मैं ही सभी की फोटू लूँगा। मेरे पप्पा के पास जो कैमरा है, मैं उससे फोटू लूँगा। एक पतला-सा कैमरा जिसे 'इप्पल' कहते हैं।" फिर समीर ने जोड़ा, "और वो टच-स्क्रीन भी होता है।"

फिर जब मैंने बच्चों को बताया कि अब हम सब कैमरे से स्कूल की फोटो खींचेंगे, तो वे बहुत खुश हुए।

अपनी मर्ज़ी से खींचो तस्वीरें

सबसे पहले तो मैंने उन्हें छः-छः की तीन टुकड़ियों में बाँट दिया। फिर उन्होंने खुद ही अपने ग्रुप का नामकरण किया - 'एलिएन्न', 'अजमेर' और 'मक्का'। तीनों टीमों को बारी-बारी से अलग ले जाकर कैमरे की सेटिंग्स के बारे में जानकारी दी। एक-दो बार तो काफी शोर भी हुआ, पर बाद में अनुशासन को मानते हुए सब-के-सब काफी धीरज से सुनने के लिए तैयार हो गए। उन्हें ज़रा भी देर नहीं लगी सारी बातें सीखने में। बारी-बारी से तीनों ग्रुप को स्कूल के अन्दर ही घुमाया गया।

बच्चे बहुत ही उत्साह से भरे हुए थे। कैमरे को हाथ में पाने के बावजूद, उनका आपसी तालमेल देखने लायक था। हर बच्चा दो-तीन फोटो खींच कर कैमरा अपने अन्य साथियों को दे देता और फिर अपनी बारी आने का इन्तज़ार करता। वे एक-दूसरे से कहते, "तू यहाँ की फोटू ले, बहुत अच्छी आएगी", "कैमरे को थोड़ा नीचे से पकड़, और अच्छी फोटू आएगी।"

कुछ दिनों बाद बच्चों को स्कूल के बाहर ले जाकर कैमरे का इस्तेमाल करने का मौका मिला जिसका उन्होंने काफी आनन्द भी उठाया। बच्चों को सबसे ज़्यादा मज़ा आ रहा था भागती हुई बिल्ली को पकड़ने की कोशिश करने और उसकी तस्वीर लेने में। साथ ही इमारतों और मोटर-साइकिल, आते-जाते ऑटोरिक्शा, पास की दुकानों की तस्वीरें लेने में भी काफी मज़ा आ रहा था।

उनकी पसन्द को समझना मेरे लिए थोड़ा मुश्किल हो रहा था, इसलिए उस वक्त उन बातों को न समझने की कोशिश करने में ही मेरी समझदारी थी। उनका व्यवहार ऐसा शायद इसलिए भी था क्योंकि निर्देश देते हुए मैंने ही कहा था कि वे कैसी भी तस्वीरें खींचते रहें – टेढ़ी-मेढ़ी, छोटी-बड़ी, ऊपर-नीचे...।

तस्वीरों की प्रदर्शनी

तस्वीरें खींचने की कवायद के बाद सभी बच्चों ने अपनी-अपनी टीम में बैठकर अपनी खींची हुई तस्वीरों को एक सफेद कागज़ पर चिपकाया और

बच्चों द्वारा खींची गईं फोटो

बची खाली जगहों को रंगों से भर दिया। लगभग एक-डेढ़ घण्टे तक उन तस्वीरों को देख वे आपसी चर्चा में खोए रहे। और बीच-बीच में आपस में लड़ते भी, "यह मैंने खींची है। मुझे दे, मैं चिपकाऊँगा।" लेकिन वह झगड़ा कुछ ही पल के लिए था। वे सब आपसी बातचीत में ऐसे खो गए कि आसपास के टीचर, मुझे और सभी को भूल गए थे।

अगली गतिविधि थी एक-दूसरे को तस्वीरों के माध्यम से अपनी कहानी सुनाना। सभी बच्चों ने अपने एल्बम में टूटे-फूटे अक्षरों में अपना नाम लिखा और रंग भरा।

जब सब तैयारियाँ हो गईं तो छोटी-बड़ी कक्षाओं के सभी बच्चों और शिक्षकों को बुला लाए जैसे कि सच में 'एग्ज़िबिशन' ही हो। अब तो सच, उस शोर को सम्भालना मुश्किल ही था। कितना मज़ा आ रहा था उन्हें अपनी कहानियों (तस्वीरों) को दूसरों को दिखाने में।

कुछ यादें, कुछ सवाल

ये तो सच है कि ये बच्चे कैमरे (डिजिटल या मोबाइल) से पहले से ही परिचित हैं

पर स्कूल परिसर में ऐसी चीज़ों का इस्तेमाल उन्होंने शायद ही किया होगा। इस गतिविधि की वजह से बच्चे मुझसे और नज़दीकी से जुड़ गए। जब भी स्कूल जाती हूँ, फिर से चर्चा शुरू हो जाती है। सब-के-सब आकर घेर लेंगे और फिर से उन तस्वीरों के बारे में बोलना शुरू कर देंगे। मैं उनसे बातें करते ही अपने बचपन में खो जाती हूँ। अपने सबसे अच्छे शिक्षक के बारे में सोचने लगती हूँ।

इस अनुभव के बाद कुछ सवाल मेरे दिमाग में घुमड़ने लगे – क्या सच में बच्चे अपनी समझदारी से महँगी चीज़ें इस्तेमाल करना नहीं जानते, क्या हमेशा ज़रूरी होता है उन्हें डाँट-मारकर सिखाया जाए कि कीमती वस्तुओं का इस्तमाल कैसे करें? वे जिन चीज़ों को अपनेपन और अधिकार से अपनाते हैं, क्या उन चीज़ों का वे सावधानी से उपयोग नहीं करेंगे? उन्हें ऐसी साधारण बातें सिखाने के लिए भी नियम-कानून या पिटाई की ज़रूरत होती है, या हम बड़ों की अधीरता का यह एक प्रमाण है? मैं इन बातों में उलझी हूँ क्योंकि कभी शायद मुझे भी बड़ों ने महँगी चीज़ों का इस्तेमाल करने से रोका था!! उस समय मेरे पास रोने के अलावा और कोई उपाय नहीं था और मेरी जिज्ञासाओं का उनके पास कोई समाधान नहीं था।

मुझे अच्छा लगा कि इस अनुभव के दौरान मेरे बचपन से किसी और का बचपन जैसे बातों-बातों में जुड़ गया, एक दोस्ताना रिश्ते की ओर कदम बढ़ाते हुए।

संघमित्रा आचार्यः कैवल्य एजुकेशन फाउंडेशन, अहमदाबाद के गाँधी फैलोशिप प्रोग्राम के तहत अहमदाबाद के म्युनिसिपल स्कूलों के साथ 'प्रिंसीपल लीडरशिप डेवलपमेंट प्रोग्राम' पर काम किया है। हाल ही में 'फोटोग्राफी विद चिल्ड्रन इन स्कूल' प्रोजेक्ट का संचालन किया है।

सभी फोटोग्राफः संघमित्रा आचार्य।

संदर्भ के शुरुआती अंकों में प्रकाशित सामग्री पढ़ने के लिए विज़िट कीजिए

www.sandarbh.eklavya.in

प्रकाशित सामग्री पर अपने विचार भेजने के लिए हमें संदर्भ के पते पर खत भेजिए या sandarbh@eklavya.in पर ई-मेल भेजिए।

आपकी लेखनी बढ़ाती है हमारा हौसला!!

प्रिय पाठको,

हमें उम्मीद है कि आपको 'संदर्भ' समय पर मिल रही होगी और आप इसे ज़रूर उलटते-पलटते होंगे। हमारा यह पत्र खास तौर पर उन शिक्षकों के लिए है जिन तक हम पहुँच पा रहे हैं और उनके लिए भी जिन तक आप पहुँच रहे हैं।

हमारे पुराने पाठक इस बात से शायद वाकिफ होंगे कि 'संदर्भ' पत्रिका की शुरुआत 1994 में हुई और तब से यह लगातार प्रकाशित हो रही है। यह वो दौर था जब होशंगाबाद साइंस टीचिंग प्रोग्राम (होविशिका) चल रहा था। होविशिका के दौरान एकलव्य मध्य प्रदेश के 15 ज़िलों के लगभग 1000 स्कूलों में काम कर रहा था। उस दौर में तकरीबन 2000 साथी शिक्षकों का साथ मिला है हमें। उन्हीं दिनों 'शैक्षणिक संदर्भ' की अवधारणा को मूर्त रूप दिया गया जो होविशिका एवं एकलव्य के अन्य शैक्षणिक कार्यक्रमों से निकलने वाली जिज्ञासाओं और सवालों पर विमर्श व जानकारी का एक मंच बना। 'संदर्भ' के लेखों ने हमेशा ही स्कूली पाठ्यक्रम को आगे बढ़ाने का काम किया है। हमने सदैव सीखने-सिखाने को सबकी मिली-जुली प्रक्रिया माना है और इस नाते हमें अपने हर पाठक से इस काम में हिस्सेदारी की ज़रूरत एवं अपेक्षा है।

शुरुआत से ही 'संदर्भ' पत्रिका के पाठकों में शिक्षकों का एक बड़ा वर्ग रहा है। शिक्षकों ने लेख लिखकर इसके सामग्री निर्माण में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हम चाहते हैं कि यह सिलसिला आगे भी यूँ ही चलता रहे।

हम चाहते हैं कि आप लिखें क्योंकि:

- शिक्षक खुद के काम एवं बच्चों के ज़रिए समाज के ज़्यादातर पहलुओं से सीधे रूबरू होते हैं।
- शिक्षण कार्य के दौरान शिक्षक रोज़ ही पाठ्यक्रम एवं पाठ्यचर्या की अपने सन्दर्भों में व्याख्या करते हैं, उन्हें ट्रांज़ैक्ट करने के नए-नए तरीके ढूँढ़ते व उन्हें इस्तेमाल करते हैं। हम चाहते हैं कि वो तरीके व अनुभव औरों तक भी पहुँचें।
- कक्षा के दौरान कई ऐसे वाकये अक्सर ही होते रहते हैं जिन्हें आप दूसरों के साथ साझा करना चाहेंगे - कुछ नया, कुछ मज़ेदार, कभी सवाल, कभी दुविधाएँ...।
- पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 और शिक्षा का अधिकार कानून के बाद शिक्षण व्यवस्था एवं प्रक्रिया में कई बदलाव आए हैं। इन बदलावों के तात्कालिक और दूरगामी परिणाम

होंगे और उनके बारे में आप शायद बेहतर जानते हैं। इसलिए हम चाहते हैं कि आप इनसे सम्बन्धित अपने अनुभवों को सबसे साझा करें।

विभिन्न कार्यक्रमों के दौरान जब भी हमारा शिक्षकों, छात्रों, शोधकर्ताओं आदि से मिलना होता है, तो हमसे यह सवाल अक्सर पूछा जाता है कि 'संदर्भ' के लिए हम **क्या लिखें?** और **कैसे लिखें?**

क्या लिखें?

आइए शुरुआत हम पहले सवाल से ही करते हैं कि आखिर क्या लिखा जाए।

जैसा कि आप जानते हैं, 'संदर्भ' में विज्ञान की विविध शाखाओं भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान से लेकर गणित, भाषा, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, शिक्षणशास्त्र से लेकर लायब्रेरी संचालन, और आपके विविध शैक्षिक अनुभवों आदि अनेकों विषयों पर लेख छपते हैं। हमारे लेखकों में भी बहुत विविधता है। शिक्षक, भाषाविद्, कॉलेज के प्रोफेसर, विषयों के विशेषज्ञ और इनके साथ ही पालक, विद्यार्थी और सामान्य पाठक इत्यादि। अतः आप अपनी रुचि और अनुभव के क्षेत्र को ध्यान में रख लेख लिखकर हमसे साझा कर सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर ध्यान रखना है कि हमारी पत्रिका का पाठक-वर्ग प्रमुखतः मिडल और हाई स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षक हैं।

कैसे लिखें?

एक बार यह तय कर लिया कि किस विषय पर लिखना है तो अब अगला सवाल आ टपकता है कि आखिर लिखें कैसे। यह सवाल अक्सर हमारे पास विषय और रुचि रहने के बावजूद हमें लेख लिखने से रोक देता है। पर हम चाहते हैं कि आप यहाँ न रुकें और बेझिझक अपना लेख हमें लिख भेजें।

हमारे एक वरिष्ठ अनुभवी सम्पादक का मानना है कि हमारा लेख लिखना वास्तव में लेख के अन्दर छुपे कुछ सवालों के जवाब देना है। हर लेख, चाहे वो किसी भी विषय पर लिखा जाए, किसी भी शैली में लिखा जाए अपने अन्दर कुछ सहज-से सवाल जैसे क्या, क्यों, कैसे आदि लेकर चलता है और हम इनका जवाब देते हुए लेख को आगे बढ़ा रहे होते हैं।

हमें ध्यान रखना है कि लेख की शुरुआत से लेकर आखिरी तक की लाइन के बीच आपस में एक जुड़ाव बना रहे। अपने विषय से ज़्यादा न भटकें बल्कि उसके इर्द-गिर्द ही बने रहने का प्रयास करें। कोशिश करें कि शुरू में दो विषयों को न मिलाएँ, चाहे तो दो विषयों पर दो अलग लेख बना लें।

तो हमें आपके लेख का इन्तज़ार रहेगा!

चित्रः शेफाली जैन

जीत का जश्न

रिनचिन

जब जनसंहार एक खेल बन गया हो, तो जीत के जुलूस को तबाही की टुकड़ी बनने में कितनी देर लगती है?

अब बदला होगा...साले उनकी तो..., सब तरफ लोग दोपहर बाद बन्द करने की तैयारी कर रहे हैं...आज तो हम जीतेंगे...मुर्गे कटेंगे...उनको

हलाल...उनकी तो औलादें भी खेलना भूल जाएँगी...साले कट...योजना पर योजना बनती है...लड़के बड़े मैच की तैयारी कर रहे हैं।

ट्रक के दूसरी ओर खड़ा रफीक चेहरे पर से ग्रीस पोंछते हुए ट्रक में तेल डालने में जुटा रहता है। एक पल घड़ी को देखता है, थोड़ा सुस्ताने को जी कर रहा है, मगर फिर कोई-न-कोई उसे बातचीत में घसीट लेगा... नहीं, काम करते रहना ही ठीक है। वह गैरेज के दरवाज़े के पास स्टूल पर रखा जग उठा लेता है।

गलियों में भगवा झण्डे लग गए हैं, संख्या में तिरंगों के बराबर ही हैं, खेलकूद में एकजुट राष्ट्र का प्रतीक है क्या? रफीक कुल्ला करके वापिस काम में भिड़ जाता है, "मैं ज़रा-सा शोएब की गेंदबाज़ी के बारे में कुछ कह दूँ, फिर देखेंगे एकता।"

बस यह दिन गुज़र जाने दो...कुछ नहीं होगा।...बस हिन्दुस्तान जीत जाए, मगर यदि जीत ने जोश और बढ़ा दिया तो...यदि जीत का नशा, जीत का आक्रामक तेवर चलता ही गया तो...वह सिहर गया। और यदि ये हार गए...तो इसका इल्ज़ाम किसी-न-किसी के मत्थे मढ़ने का बहाना न बन जाए। उसने अपना सिर हिलाया। वह ज़्यादा ही डर रहा है। गैरेज के पीछे की लाइन पर कोई ट्रेन गुज़री, वह थरथराहट महसूस कर सकता है...दोपहर वाली इंटरसिटी होगी।

सरकारी अस्पताल के डॉक्टर ने उसे क्या बताया था, पैरानोइया?

"सब भूल जाओ, वह बीत चुका है, शहर वापिस सामान्य हो गया है, सब तरफ शान्ति है, दोनों समुदायों के बीच सम्बन्ध सामान्य हो गए हैं।" डॉक्टर अपनी कुर्सी पर आराम-से टिककर बैठ गया था और रफीक को देख रहा था। रफीक मरीज़ के लिए रखे स्टूल के किनारे पर टिका हुआ था। "हम हिन्दुस्तानियों का दिल हमेशा से बहुत बड़ा रहा है, सब होने के बाद भी हम चलते रहते हैं। यह बहुत बड़ा एकजुट देश है।" रफीक के कुछ बड़बड़ाने पर डॉक्टर ने तीखी आवाज़ में कहा था, "बीती बातों को बार-बार याद करके क्या मिलेगा तुम्हें? यदि तुम लोग फिर से गर्मागरमी की कोई वजह पैदा नहीं करोगे, तो क्यों होगा फिर से कुछ? भगवान सब ठीक ही करता है, जो भी होता है किसी कारण से होता है।"

रफीक ने सिर्फ सिर हिलाया था, कुछ बोलने के लिए उसे यकीन नहीं था अपनी आवाज़ पर। पर्ची उठाकर वह निकल आया था। बस में बैठकर रफीक की इच्छा हुई थी कि कुल्ला कर ले, निगले हुए गुस्से और ज़लालत का कसैला स्वाद थूक दे।

ढाई बज रहे हैं, डेढ़ घण्टा और, फिर वह घर में होगा। वह ट्रक के नीचे घुस गया।

ट्रक के दूसरी ओर काम कर रहे

चित्र: सौम्या शुक्ला

लड़के भी जल्दी-जल्दी काम खत्म कर रहे हैं, पूरी मज़दूरी के लिए एक घण्टे का मैच छोड़ने में क्या बुराई है। मगर पैसे के लिए वे सिर्फ यही एक घण्टा कुरबान कर सकते हैं। आखिरकार वह देशभक्ति का दिखावा जो था। खूब ठहाके और...उम्मीदें... आज हम जीतेंगे! हर हर महादेव। कत्ल शुरू करो। हर बॉल पे एक डाउन।

बस्ती में लड़के व्यस्त थे, कुछ ने काम से छुट्टी ले ली थी और कुछ के पास काम था ही नहीं। अँग्रेज़ी बीयर की बोतलें जमा कर ली गई थीं रात के लिए, झण्डे ऊँचे थे, चेहरे रंगे हुए थे, सिर पर भगवा पट्टे बाँधे, जश्न की तैयारी पूरी थी।

साढ़े चार, रफीक घर लौट रहा है, हर दुकान जिसमें टीवी हो, वहाँ छोटी-मोटी भीड़ जुटी है। ग्राहक थोड़ी देर एक विकेट की उम्मीद में ठिठक जाते हैं। सड़क पर वह किसी से आँखें मिलाने से कतराता है, पूरा ध्यान गली के अन्तिम छोर पर पहुँचने पर है, वहाँ से बस बाएँ मुड़ा और महफूज़ हो जाएगा। कम-से-कम एक घेटो जितनी हिफाज़त दे सकता है। ठीक एक साल पहले वह 'चार मोहल्ला' में शिफ्ट हुआ था, एक साल पहले जब पहले से ही बँटे हुए शहर को दहशत और मौत ने और बाँट दिया था। उसे यह बस्ती एक तन्दूर जैसे लगती है, दिमाग और रूह दहशत से झुलस गए

हैं, फक्त बेखबर राख या सुलगते अंगारे बचे हैं जिनमें बस इतनी गर्मी है कि इन्सान को धीमे-धीमे जलाते रहते हैं। अखबारों के सम्पादकों से लेकर बैंक मेनेजरों तक सभी यहाँ आकर बस गए हैं, एक पुलिस अफसर भी यहाँ मकान बनवा रहा है, रिटायरमेंट के बाद के लिए। ज़मीन के दाम किस कदर बढ़ गए हैं। यहाँ सस्ती ज़मीन खरीदने के लिए दुगने दाम देने पड़े थे...और सबको अपनी पुरानी ज़ायदाद औने-पौने दाम पर बेचना पड़ी थी या वैसे ही छोड़ देनी पड़ी थी। रफीक ने सुना था कि सड़क किनारे की कुछ दुकानें तो बगैर पैसा दिए, वैसे ही ले ली गई थीं।

कोई सौदेबाज़ी नहीं, कोई करार नहीं, ले लो या छोड़ दो।

जो भी मिले, उसे मंज़ूर करना रफीक जैसे परिवारों के लिए कोई समझौता नहीं था, घुटने टेकना था। और चारा भी क्या था। जब उसकी फूफी का परिवार कैम्प से अपने गाँव लौटा था, तो उन्हें अपने पड़ोसियों से खटिया और नसैनी वापिस खरीदनी पड़ी थीं, वही चीज़ें जो उनके घर छोड़कर भाग जाने के बाद लूट ली गई थीं। यह बात बताते हुए उनके आँसू बह रहे थे, और एक रूखी हँसी थी, "पर अब क्या करेंगे, इनके साथ ही जीना है एक गाँव में।" रफीक के परिवार को अपनी जायदाद के बारे में ऐसी कोई समस्या नहीं आई थी। उनके पास जो कुछ था उसे जलाने या लूटने का काम अजनबियों ने किया था। वापिस खरीदने की कोई गुंजाइश नहीं थी, चाहे वह खानदानी जायदाद ही क्यों न रही हो।

पिछला महीना काफी तनाव का रहा, मार्च के सौम्य दिनों को अप्रैल की चिलचिलाती दोपहरों तक धकेलते हुए अनगिनत अनकहे शब्द और खदकती भावनाएँ।

जनसंहार की बरसी...

और इस साल यह क्रिकेट है। रफीक को समझ नहीं आता कि क्या कहे, हिन्दुस्तान हार जाए तो आलोचना करते हुए डर लगता है। क्या पता चन्द असावधान लफ्ज़ क्या तूफान खड़ा कर दें। हाँ, सिर पर भगवा पट्टी बाँधे बाकी के लड़के टीम के बाप-दादाओं तक को गाली दे सकते हैं। उन्हें यह हक जन्मजात मिला है।

सुबह जब लड़कों ने ब्रेक लिया था, तब भागेश ने रोज़ की तरह खबरची की भूमिका निभाते हुए हरीभाई के टी स्टॉल से माँगे हुए अखबार से खबरें पढ़कर सुनाई थीं। एक खबर थी कि कैसे एक भीड़ ने कुछ क्रिकेट खिलाड़ियों के घरों पर धावा बोल दिया था, पता नहीं कैफ था कि ज़हीर था, या द्रविड़ या गांगुली था। और घर को काला पोत दिया था। यह तब की बात है जब टीम पिछला मैच हार गई थी...साले उनकी तो...पर ये सही नहीं किया...क्यों वो खराब खेलेंगे तो लोग तो नाराज़ होंगे ना, पर बाद में...पूरी भारतीय

टीम ने निकलकर अपील की थी कि लोग यह पागलपन बन्द करें। खिलाड़ी भी उनकी ही तरह इन्सान हैं। जब वे अपने घर से इतनी दूर देश के लिए खेलते हैं, तो यह सही नहीं है कि उनके परिवार खतरे में रहें। अपील कारगर रही थी, भारतीय टीम के खिलाड़ियों के परिवार अब महफूज़ हैं।

दूसरी ओर खड़े-खड़े रफीक ने सब सुना मगर चुप रहा, आम तौर पर गैरेज में वह इस सबसे दूर ही रहता था। उसने एक साये की तरह जीना सीख लिया था, हमेशा मौजूद मगर आँखों से ओझल। गोया वह वहाँ हो ही नहीं। और वह यह कमाल बहुत अच्छे से करता होगा क्योंकि आजकल मुस्लिम विरोधी टीका-टिप्पणी करते हुए लोग आवाज़ धीमी नहीं करते थे। धीरे-धीरे वह औरों का अक्स बनता जा रहा था। एक आइना जो आपका अक्स खींचता है। हूबहू वही, अलग नहीं। एक जिस्म जिससे आँखें नहीं मिला सकते...और काँच उतनी आसानी से जलता भी तो नहीं जितनी आसानी से मांस जलता है।

यह नौकरी आसानी से नहीं मिली थी और वह इसे खोना नहीं चाहता।

वह दो नौकरियाँ गँवा चुका था। पहली नौकरी तब छूट गई थी जब उन्हें रातों-रात अपना घर और बस्ती छोड़कर भागना पड़ा था। शहर थोड़ा सामान्य होते ही वह लौटकर गया था, मगर उसे बताया गया था कि

चित्रः सौम्या शुक्ला

वहाँ दूसरा आदमी रख लिया गया है। "हम कितने दिन तुम्हारी राह देखते, हमें भी तो कामकाज शुरू करके अपना नुकसान कम करना था।" सेठ ने कहा था, "और अब तुम लोगों को रखने में खतरा है। तुम्हें अपने मोहल्ले में ही नौकरी ढूँढ़ना चाहिए, तुम लोगों के ज़्यादातर गैरेज वहीं तो चले गए हैं, वहाँ काम होगा, तुम सबके लिए खूब काम होगा।"

उसके इलाके का कोई गैरेज उसे काम नहीं दे सकता था, इतना नुकसान हुआ था कि ज़्यादातर गैरेज छोटी-छोटी पारिवारिक इकाइयों के रूप में सिमट गए थे, खुद अपनी नौकरियाँ खोकर बेटे-भाई इनमें जुड़ गए थे। सबको अपना पेट पालना था।

आखिरकार उसे नौकरी मिल गई थी, गैरेज में नहीं, खेलकूद के सामान की दुकान में। तनखा प्रशिक्षित मेकेनिक

चित्रः सौम्या शुक्ला

के रूप में जितनी मिलती थी उससे आधी थी। मज़दूरी का काम था। यहाँ जब से लगा था, तब से तीन बार दुकान पर ही वह बदहवासी का शिकार हो चुका है, एकदम सुन्न पड़ गया था, न खड़ा रह सका न जवाब दे सका। मालिक ने उसे घर भेज दिया था। दो दिन तक वह बिस्तर में पड़ा रहा था, उठ ही नहीं पाया था। तीसरे दिन अब्बा उसे अस्पताल ले गए थे। पाँचवे दिन काम पर लौटा था। नौजवान मालिक काफी हमदर्द था, मगर दुकान उसकी नहीं, उसके पिता की थी और पिता बहुत बेरहमी से पेश आया था। "आखरी मौका दे रहा हूँ, यदि और छुट्टी ली तो घर पर ही रहना। वह तो लड़के के कहने पर मैं तुम्हें रखने का खतरा मोल ले रहा हूँ।" मगर फिर कई बार ऐसा हुआ कि रफीक खुद को तैयार ही नहीं कर पाता था काम पर जाने के लिए। सेठ आग-बबूला हो गया था, "हम कैसे यह बर्दाश्त कर सकते हैं?" रफीक ने कुछ नहीं कहा, आखिर जब उसने आँखें उठाईं तो सेठ चीख पड़ा था, "ऐसे आँखें मत तरेरो, और दूसरों को दोष देने से क्या मिलेगा? तुम तो ऐसे बता रहे हो जैसे हम सब तुम्हें नौकरी से बाहर रखने की साज़िश कर रहे हैं।" उसने दुकान में दो अन्य कर्मचारियों की ओर देखा, उनकी तुलना उससे करते हुए। "किसी का धर्म कुछ भी हो, मेहनत तो करनी पड़ेगी, तुम लोग तो हमेशा रियायत चाहते हो। यदि तुम इतनी छुट्टियाँ लोगे, तो हम तुम्हें निकालेंगे नहीं तो क्या करेंगे।" इस बीच बाकी दोनों नौकर सेठ के आजू-बाजू खड़े हो गए थे। "और तुम्हारा बहाना क्या है - कि तुममें ताकत नहीं है। अरे हमने भी शहर में बुरा वक्त देखा है। मैं तो सदमे का बहाना नहीं बना रहा हूँ। तुम सब नौजवान लड़के हो। तुम सबको तो ईमानदार और मेहनती होना चाहिए, कामचोर और रुआँसे नहीं।" इतना कहकर वह उठा और दुकान से निकल गया, रफीक वहीं खड़ा रहा। उसकी आँखें फर्श पर टिकी हुई थीं।

सेठ ने रफीक को उतने दिन की तनखा दे दी थी जितने दिन वह काम पर आया था। गैर-हाज़री के दिनों का पैसा काटकर। वह ईमानदार

आदमी था।

उसकी तीसरी नौकरी इस गैरेज में लगी थी। किस्मत अच्छी थी उसकी। पिछले चार महीनों में उसने कभी अपनी समस्या का ज़िक्र नहीं किया, न ही पिछले एक साल के बारे में कोई बात की। कभी कोई मेहरबानी नहीं चाही। वह अपना काम अच्छे से करता है और उसकी तारीफ होती है। उसकी इच्छा थी कि ऐसे ही चलता रहे।

गली में घुसते हुए रफीक को कई रेडियो और टीवी की आवाज़ें सुनाई पड़ीं, सारी आवाज़ें मिलकर अजीब-सी खिचड़ी बन रही थी। उसे पता नहीं कि उसकी खोपड़ी में क्या है और वह क्या सुन रहा है। "खून से रंगे एक साल के बाद आज देश फिर से एक जुनून की गिरफ्त में है। एक जुनून-सा फिर छाया है सब पर।" जुनून और जश्न का वक्त है।

और रफीक सहमा हुआ है, फिर से।

रफीक के अब्बा ने सबको घर पर ही रहने की हिदायत दी है। उसका भाई तौफीक चिड़चिड़ा-सा बैठा है, वह इस बात पर नाराज़ है कि उसे शाहिद के घर जाकर टीवी देखने की इजाज़त नहीं मिली। जब से कप शुरू हुआ है, मोहल्ले के उसके सारे दोस्त किसी एक घर में इक्ट्ठे होकर मैच देखते हैं। जिस घर में वे इकट्ठे होते हैं उसकी माँ को मजबूर होकर उन्हें खिलाना भी पड़ता है। मगर आज उसके अब्बा की आवाज़ सख्त थी। "बस चुपचाप ये दिन निकल जाने दो, फिर कल से मैच देखना। अभी इंडिया और ऑस्ट्रेलिया का भी तो मैच होगा ना!" यह कहते हुए उनकी आँखें एक पल के लिए भी पर्दे से नहीं हटतीं। हर गेंद पर ध्यान है उनका।

रफीक टीवी को अनदेखा करके पीछे के आंगन में चला गया। बड़ी टंकी में से पानी लेकर हाथ, मुँह, पैर धोए और सिर पर पानी डालकर बालों में उंगलियों से ही कंघी जैसी कर ली। धूप में उसके बाल चमक रहे हैं। आखरी में उसने कुल्ला करके नाली में थूका और खाना खाने रसोई की ओर चल दिया।

पहले बैटिंग करते हुए पाकिस्तान बढ़िया खेला। हर गेंद के साथ खूब हल्ला होता और वह बस्ती पर छा जाता। गली के मुहाने पर रशीद भाई की पान की दुकान पर तिरंगा थोड़ा हिचकते हुए लहरा रहा था, गोया डर रहा हो कि कोई उसके फरेब को ताड़ न ले।

"दिन गुज़रने दो, भारत मैच जीतेगा। जय हो।"

गैरेज में राणा ने लड़कों को एक और खबर पढ़कर सुनाई थी - शहर के कुछ बड़े-बड़े मण्डलों ने आज विशेष प्रार्थनाएँ आयोजित की हैं। जीत के लिए मंत्रोच्चार के साथ यज्ञ में शुद्ध घी की आहुति दी गई है।

अग्नि सफाई करती है, अनचाही

चीज़ों का नाश करती है।

अब भारत बैटिंग कर रहा है। आज सचिन धमाका कर रहा है और उसके साथ टीवी और गलियों में नगाड़े भी। और हर ओवर के साथ बैटिंग बढ़िया होती जा रही है और गलियों में जश्न का शोर भी बढ़ता जा रहा है। साढ़े दस बजे इंडिया जीत चुकी थी और शहर में पटाखे फूटने लगे थे। फिज़ा में विजयी धुआँ और बारूद की महक भर गई, ज़्यादा खुश, ज़्यादा उन्मादी। विजय का प्रसन्न अहंकार। मोहल्ले में भी किसी ने पटाखे छोड़े, फिर और पटाखे फूटे, बाहर लड़के ठहाके लगा रहे थे। सारे शोरगुल में उसे समीर की आवाज़ अलग से सुनाई दे रही थी, तेरह साल की फटी-सी आवाज़, उत्साह में और तीखी हो गई थी। "क्या लास्ट ओवर था। इन्शा अल्ला, अब तो हम कप जीतेंगे।" रफीक मुस्कुरा दिया, एक वक्त था जब उसे क्रिकेट से मुहब्बत थी।

नगाड़ों की आवाज़ें बढ़ती जा रही थीं, पास आ रही थीं और साथ में नारे लग रहे थे, हिन्दुस्तान हमारा है, पाकिस्तान की तो...भारत माता की जय। अचानक उसका सबसे छोटा भाई रोने लगा। ये नगाड़े, नारे और मशालें कौन-सी यादों को कुरेद देते हैं? अम्मी उसे तसल्ली देती हैं, पीठ थपथपाती हैं, बुद्धू यह तो जीत का जुलूस है, वे लोग जीत का जश्न मना रहे हैं। वे खुश हैं, हम सब खुश हैं। चल चुप हो जा, आ मेरे पास सो जा।

चित्रः शेफाली जैन

एक साल पहले इन्हीं नगाड़ों की ताल पर मौत और नफरत का नाच हुआ था, इन चीखों से उत्तेजित होकर तलवारों और लिंगों के नफरत भरे आक्रमण हुए थे, जलती बोतलें फेंकी गई थीं, ज़िन्दा लोग जलाए गए थे।

ये लोग एक बार फिर नगाड़ों की ताल पर नाचे थे, जब वोटों की फसल काटने के बाद जीत का जश्न हुआ था। खून और नफरत से वोटों की पैदावार अच्छी हुई थी।

एक बार फिर पटाखों की एक लड़ी फूटी, रफीक को दम घुटता-सा लग रहा था। वह दरवाज़े की ओर बढ़ा, चलते-चलते वह पैकेट उठा लेता है जो वह लेकर आया था। "कहाँ जा रहे हो?" उसके पिता ने तेज़ आवाज़ में पूछा।

"कहीं नहीं...थोड़ा बाहर तक।"

"पागल हुए हो, तुम्हें सुनाई नहीं पड़ता, सब नशे में हैं, बस कोई बहाना ढूँढ़ रहे हैं।"

"मुझे पता है, सब ठीक है। मैं तो दरवाज़े पर ही खड़ा हूँ।" रफीक दरवाज़े के पास खड़ा रहा, नगाड़े नज़दीक आ गए थे, बस्ती में और पटाखे छूटने लगे। "पक्का पता चल जाए कि हम भी जश्न मना रहे हैं," रफीक ने सोचा। उसका सिर नगाड़ों की आवाज़ से धड़क रहा है। उसने पैकेट में से कुछ पटाखे निकालकर दरवाज़े पर जला दिए...जीत के लिए...इस महान देश की एकता के लिए।

उसने कमीज़ की जेब में से गुटके का अधखाया पाउच निकाला, सिर पीछे की तरफ करके उंगली से धक्का मारकर गुटका अपने मुँह के हवाले किया। थोड़ी देर तक उसे चबाता रहा और फिर कत्थई पीक दरवाज़े के पास लगे मोगरे पर थूक दी। गुटका खाने की आदत उसे कुछ महीनों से ही पड़ी है। इससे मुँह का स्वाद बदल जाता है। खाली पाउच हवा के साथ उड़ गया, वैधानिक चेतावनी इतनी बारीक है कि शायद ही किसी को दिखती हो।

रिनचिन: बच्चों व बड़ों के लिए कहानी लिखती हैं। मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में जन संगठनों के साथ जुड़ी हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

चित्र: शेफाली जैन: चित्रकार हैं। महाराजा सयाजीराव युनिवर्सिटी ऑफ वडोदरा से पढ़ाई। वर्तमान में अम्बेडकर युनिवर्सिटी, दिल्ली में सहायक प्रोफेसर हैं।

सौम्या शुक्ला: सेंट जोसफ कॉन्वेंट स्कूल, भोपाल से हाल ही में 12वीं की परीक्षा उत्तीर्ण की है। स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं।

एक अनोखी मछली

अरविन्द गुप्ते

इस मछली की कहानी की शुरुआत से पहले हमें कुछ बातें समझनी होंगी। जुरासिक पार्क नामक अँग्रेज़ी फिल्म ृंखला में एक ऐसा द्वीप दिखाया गया है जिसमें जीवित डायनासौर रहते हैं। यह केवल एक काल्पनिक कहानी है क्योंकि डायनासौर आज से लगभग साढ़े छह करोड़ वर्ष पहले विलुप्त हो गए थे और अब उनके जीवाश्म ही पाए जाते हैं।

जैसे डायनासौर अब जीवाश्मों के रूप में पाए जाते हैं उसी प्रकार विलुप्त मछलियों का एक बड़ा समूह, जिसे एक्टिनिस्टिया (Actinistia) कहते हैं, भी केवल जीवाश्मों के रूप में पाया जाता है। इनके जीवाश्म 35 करोड़ वर्ष पुरानी चट्टानों में मिलते हैं। एक समय में ये मछलियाँ समुद्र में बहुतायत में पाई जाती थीं। इन मछलियों को साधारण भाषा में सीलाकैन्थ कहते हैं। डायनासौर के समान यह समूह भी लगभग साढ़े छह करोड़ वर्ष पहले ही विलुप्त हो गया था। इस समूह की मछलियों को जैव-विकास की दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि उनके शरीर की बनावट इस ओर इशारा करती है कि मछलियों से धरती पर

जीवाश्म किसे कहते हैं?

किसी भी विलुप्त जन्तु या पौधे के किसी समय जीवित होने का प्रमाण जीवाश्म कहलाता है। जब किसी मृत जीवधारी का शरीर मिट्टी में दब जाता है तब उसके शरीर के नरम भाग गल जाते हैं और कठोर भाग धीरे-धीरे (करोड़ों वर्षों में) पत्थर में बदल जाते हैं। जब ये पत्थर किसी कारण से पृथ्वी की सतह पर आ जाते हैं तब उनके अध्ययन से उस जीवधारी की शरीर रचना के बारे में बहुत सारी जानकारियाँ मिल जाती हैं। जिन जन्तुओं में हड्डियाँ होती हैं उनकी हड्डियाँ प्रायः जीवाश्मों के रूप में मिलती हैं। इनके अलावा, अण्डे और घोंघों और शंखों के कवच भी जीवाश्मों के रूप में पाए जाते हैं। भारत के कई भागों में विलुप्त हो चुके वृक्षों के तने पत्थर के रूप में पाए जाते हैं। यदि कोई विलुप्त कीड़ा गीली मिट्टी पर रेंगते हुए अपना निशान छोड़ गया हो और बाद में यह मिट्टी चट्टान में बदल गई हो तो कीड़े के रेंगने के निशान को भी जीवाश्म कहा जाता है।

रहने वाले जन्तुओं का विकास कैसे हुआ होगा। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि ये मछलियाँ अपने मांसल पंखों (fins) की सहायता से ज़मीन पर चलने लगीं और हवा में साँस लेने लगीं और इस प्रकार उभयचर जन्तुओं (मेंढक वगैरह) का विकास हुआ। उभयचर जन्तुओं के बाद में सरीसृपों, पक्षियों और स्तनधारियों का विकास हुआ। इन मछलियों के जीवाश्म लगभग संसार के सभी बड़े संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं।

पानी में तैरते समय ये मछलियाँ अपने पंखों को इस प्रकार चलाती हैं जैसे घोड़ा दुलकी चाल से चलते समय पहले दाँईं अगली टांग के साथ बाँईं पिछली टांग और फिर बाँईं अगली टांग के साथ दाँईं पिछली टांग चलाता है।

धरती पर रहने वाले जन्तुओं के पूर्वज होने का दावा मछलियों का एक और समूह करता है। इस समूह की अधिकांश मछलियाँ भी विलुप्त हो चुकी हैं, किन्तु इनकी तीन प्रजातियाँ संसार के विभिन्न भागों में बच गई हैं। इन मछलियों में फेफड़ेनुमा अंग होते हैं जिनकी सहायता से ये मछलियाँ हवा में साँस ले सकती हैं। जैव-विकास से जुड़ी पहेली यह है कि ज़मीन पर रहने वाले जन्तुओं का विकास फेफड़े वाली मछलियों से हुआ या दो जोड़ी टांगों वाली सीलाकैन्थ मछलियों से हुआ?

एक अनोखी मछली जाल में

अब हम मूल कहानी पर आते हैं। बात सन् 1938 की है। दक्षिण अफ्रीका के पूर्वी तट पर ईस्ट लंदन नामक एक छोटा-सा बन्दरगाह है। इस छोटे-

अहमदाबाद से कुछ 80 कि.मी. दक्षिण बालासिनोर में पाया गया डायनासौर अण्डे का जीवाश्म।

हेलीकॉप्टर कीट का जीवाश्म।

से कस्बे में एक छोटा-सा संग्रहालय है जिसकी संग्रहालय अध्यक्ष मार्जरी लैटिमर नामक 32 वर्षीय अँग्रेज़ मूल की महिला थीं। मछली पकड़ने वाली एक नाव के कप्तान हेन्डरिक गूजेन से उनका परिचय था। जब भी गूजेन समुद्र से मछलियाँ पकड़ कर लौटते थे तो वे लैटिमर को बुलवा कर पकड़ी गई मछलियाँ दिखाते थे और संग्रहालय के लायक कोई मछली हो तो सहर्ष भेंट कर देते थे।

23 दिसम्बर, 1938 को गूजेन चालुम्ना नदी के मुहाने से मछलियाँ पकड़ कर लौटे तो उन्होंने हमेशा की तरह लैटिमर को न्यौता दिया। वैसे तो लैटिमर संग्रहालय से सम्बन्धित किसी अन्य काम में व्यस्त थीं, किन्तु उन्होंने सोचा कि उन्हें नाव पर काम करने वाले नाविकों को कम-से-कम बड़े दिन (25 दिसम्बर) की शुभकामनाएँ तो देना ही चाहिए। वे एक टैक्सी लेकर बन्दरगाह पहुँचीं और नाविकों से बात करके लौट ही रहीं थीं कि उनकी नज़र मछलियों के ढेर के नीचे से झाँक रहे एक नीले पंख पर पड़ी। उन्होंने उस पाँच फीट लम्बी मछली को निकलवा कर देखा। उन्हें लगा कि ऐसी मछली उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी और उसे तुरन्त संग्रहालय में ले जाना चाहिए। किन्तु एक कठिनाई सामने आ गई। टैक्सी ड्राइवर ने उस बड़ी भारी और बदबूदार मछली को ले जाने से मना कर दिया। खैर, काफी जद्दोजहद के बाद वह मान गया और मछली संग्रहालय में पहुँच गई। संग्रहालय में उपलब्ध सीमित पुस्तकों को खंगालने पर लैटिमर को लगा कि वह मछली एक विलुप्त मछली के चित्र के समान दिखाई दे रही थी।

तो क्या उनके हाथ एक ऐसी अनोखी मछली आई थी जिसके जीवित होने की कोई सम्भावना ही नहीं थी? उन्होंने उस मछली का एक चित्र बना कर पचास मील दूर स्थित ग्राहम्सटाउन

स्थित रोड्स विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे.एल.बी. स्मिथ को भेजा। स्मिथ महाशय थे तो रसायन शास्त्र के प्रोफेसर, किन्तु मछलियों के सम्बन्ध में उनके ज्ञान का लोहा सब लोग मानते थे। दुर्भाग्यवश, प्रोफेसर स्मिथ उन दिनों छुट्टियाँ मना रहे थे। इस बीच लैटिमर के वरिष्ठ अधिकारी यानी ईस्ट लंदन संग्रहालय के संचालक का कहना था कि यह मछली कोई खास नहीं है और इस बदबूदार चीज़ को संग्रहालय में रखने का कोई फायदा नहीं है। मार्जरी ने मछली को सुरक्षित रखने के लिए उसे एक चादर में लपेट कर फॉर्मलीन में भिगो कर रखा, किन्तु 3-4 दिनों में मछली में सड़न के लक्षण दिखाई देने लगे। तब उन्होंने स्थानीय टैक्सीडर्मिस्ट (जानवरों की खाल में भूसा भरने वाले) से उसमें भूसा भरवा लिया। इस प्रक्रिया में सभी आन्तरिक अंग निकाल दिए जाते हैं।

विलुप्त नहीं, जीवित जीवाश्म

इस बीच प्रोफेसर स्मिथ को लैटिमर का पत्र और मछली का चित्र मिला। उन्होंने बाद में लिखा कि चित्र देखकर उन्हें लगा था कि जैसे उनके दिमाग में कोई बम फूटा हो। वे एक ऐसे जन्तु को देख रहे थे जिसके बारे में माना जा रहा था कि वह करोड़ों वर्ष पहले विलुप्त हो चुका था। उन्होंने तुरन्त लैटिमर को तार भेज कर कहा कि उनके आने तक मछली के आन्तरिक अंगों को सुरक्षित रखा जाए। आखिर 16 फरवरी, 1939 को वे ईस्ट लंदन पहुँचे और लैटिमर के कार्यालय में एक टेबल पर रखी मछली के इर्द-गिर्द कई बार घूम-घूम कर देखा, उसे

Miss M. Courtenay-Latimer

मार्जरी लैटिमर

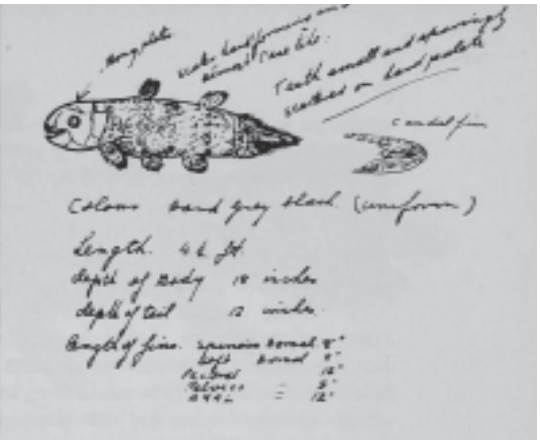

Miss Latimer's sketch and notes

लैटिमर द्वारा बनाया गया सीलाकैन्थ का चित्र व उस पर नोट्स

छूकर देखा और फिर बोले, "सुनो बेटी, इस खोज की चर्चा संसार के हर वैज्ञानिक की ज़ुबान पर होगी।" और हुआ भी यही। जब स्मिथ का शोध पत्र मशहूर वैज्ञानिक पत्रिका *नेचर* में प्रकाशित हुआ तो वैज्ञानिक जगत में तहलका मच गया। यह कुछ ऐसा था मानो जीवित डायनासौर मिल गया हो। चूँकि पकड़ी गई मछली एक नई प्रजाति की थी, स्मिथ ने उसका नाम *लैटिमरिया चालुम्नी* रखा। जीनस का नाम मार्जरी के उपनाम लैटिमर पर और स्पीशीज़ का नाम चालुम्ना नदी पर रखा गया।

चूँकि मछली के आन्तरिक अंग निकाल कर फेंक दिए गए थे, स्मिथ को लगा कि इसी प्रजाति की एक मछली और मिल जाए तो उसका पूरा अध्ययन किया जा सकता है। उन्होंने अफ्रीका के पूर्वी तट के गाँवों में सब तरफ मछली के चित्र वाले पोस्टर लगवाए और मछली पकड़ने वाले के लिए इनाम की घोषणा कर दी। एक जहाज़ के उनके परिचित कप्तान एरिक हंट के कहने पर उन्होंने अफ्रीका के पूर्वी तट पर स्थित कोमोरो द्वीप समूह पर भी ये पोस्टर लगाए। 21 दिसम्बर, 1952 को आंजुआन नामक द्वीप पर हंट के पास दो स्थानीय व्यक्ति एक बड़ी मछली लेकर आए। यह मछली भी सीलाकैन्थ ही थी और इसे स्थानीय भाषा में 'मेम' या 'गोम्बोसा' कहा जाता था। हंट को यह भी पता चला कि इस प्रजाति की मछलियाँ अक्सर कोमोरो द्वीप समूह में पाई जाती हैं। हंट ने कहीं से फॉर्मलीन का जुगाड़ किया और मछली के शरीर में इंजेक्शन से पहुँचा दिया। चूँकि उन दिनों कोमोरो द्वीप समूह फ्रांस के अधीन था, अतः फ्रांसीसी अधिकारियों ने हंट से कहा कि यदि प्रोफेसर स्मिथ स्वयं इस मछली को लेने नहीं आए तो वे उसे ज़ब्त कर लेंगे। तब हंट ने स्मिथ को एक और तार भेज कर तुरन्त कोमोरो पहुँचने का आग्रह किया। स्मिथ को चिन्ता थी कि वे 14 वर्षों से जिस मछली का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे थे कहीं उसे खो न बैठें। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमंत्री मलान से सम्पर्क करके उन्हें कोमोरो ले जाने के लिए एक हवाई जहाज़ उपलब्ध कराने का अनुरोध किया, जिसे मलान ने मान लिया और वायु सेना का एक जहाज़ उन्हें उपलब्ध करवाया। जब स्मिथ ने कोमोरो पहुँच कर हंट के जहाज़ पर मछली को देखा तो खुशी के मारे उनके आँसू छलक पड़े। स्मिथ को एक साबुत मछली मिल गई थी जिसके सारे आन्तरिक अंग सुरक्षित थे। साथ ही, स्थानीय निवासियों का उस मछली से परिचय होने के कारण उन्हें यह भी पता चल गया था कि उन्हें और भी मछलियाँ उस क्षेत्र में मिल सकती हैं। इन आन्तरिक अंगों का परीक्षण करके स्मिथ ने कई शोध पत्र प्रकाशित किए। किन्तु फ्रांस के अधिकारियों को ऐसा लगा कि उनके साथ धोखा हुआ है और उन्होंने फ्रांस के अलावा अन्य

देशों के वैज्ञानिकों के द्वारा सीलाकैन्थ पर शोध कार्य करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जो 1970 के दशक में कोमोरो द्वीपों के आज़ाद होने तक जारी रहा।

1956 में एक दुर्घटना में हंट का जहाज़ डूब गया और उनकी मृत्यु हो गई। 1968 में लम्बी बीमारी से परेशान होकर प्रोफेसर स्मिथ ने आत्महत्या कर ली। सन् 1988 में कैप्टन गूजेन की मृत्यु हो गई। मार्जरी लैटिमर 97 वर्ष की लम्बी उम्र जीने के बाद 2004 में संसार से विदा हो गईं।

कुछ जैविक जानकारी

सीलाकैन्थ की लम्बाई लगभग 5 फीट और भार 45 कि.ग्रा. होता है। ठण्डा वातावरण पसन्द होने के कारण ये मछलियाँ दिन में समुद्र की सतह से 650 से 1300 फीट तक की गहराई पर किनारे में कटी हुई गुफाओं में आराम करती हैं और रात में शिकार की खोज में सतह पर आती हैं। अफ्रीका के पूर्वी तट पर इस प्रकार की गुफाओं की संख्या बहुत अधिक होने के कारण वहाँ पर इन मछलियों को अनुकूल पर्यावरण मिल जाता है। इनका भोजन सभी प्रकार की मछलियाँ होती हैं। इनके जबड़े का जोड़ लचीला होने के कारण इनका मुँह काफी चौड़ा होता है जिसके कारण ये बड़ी मछलियों को भी निगल जाती हैं।

रात के समय समुद्र की सतह पर आने के कारण सीलाकैन्थ उन मछुआरों के जाल में कभी-कभी फंस जाती हैं जो रात में छोटी नावों में मछलियाँ पकड़ने के लिए निकलते हैं। वैसे इनके बदबूदार मांस के कारण इन्हें कोई खाना पसन्द नहीं करता और इसलिए इनका कोई व्यावसायिक महत्व नहीं होता।

सीलाकैन्थ मछलियों के अण्डे लगभग एक साल तक मादा के गर्भ में ही रहते हैं और वहीं फूटते हैं। इनमें से निकलने वाले शिशु जन्म से ही पूरी तरह विकसित होते हैं।

फिलहाल जीवित सीलाकैन्थ की संख्या का अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु समय-समय पर की गई गणनाओं के अनुसार अफ्रीका के तट पर इनकी संख्या एक हज़ार के आसपास हो सकती है। संसार के वैज्ञानिक दक्षिण अफ्रीका सरकार के साथ मिल कर एक परियोजना के माध्यम से यह प्रयास कर रहे हैं कि इनके शिकार पर पाबन्दी लगे और इनकी संख्या बढ़ाई जा सके।

एक जीवित नमूने की खोज

किन्तु सीलाकैन्थ की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। सितम्बर, 1997 में इंडोनेशिया के सुलावेसी द्वीप में एक सीलाकैन्थ पकड़ी गई। उस समय अमरीकी जीव शास्त्री मार्क अर्डमन और उनकी पत्नी अर्नाज वहाँ छुट्टियाँ बिता रहे थे। उन्होंने बाज़ार में इस मछली को देखा ज़रूर किन्तु वे उसका फोटो भर ले सके और किसी अन्य व्यक्ति ने उस मछली को खरीद लिया।

तब अर्डमन ने भी सीलाकैन्थ पकड़ कर लाने वाले के लिए इनाम की घोषणा की। 30 जुलाई, 1998 को मछुआरे एक जीवित सीलाकैन्थ को पकड़ कर अर्डमन के पास ले आए। कोमोरो सीलाकैन्थ से इस प्रजाति का रंग भिन्न है और इसे *लैटिमरिया मेनाडोएन्सिस* नाम दिया गया है क्योंकि इसे मेनाडो द्वीप के समीप पकड़ा गया था। स्थानीय मछुआरे इस मछली से परिचित थे और इसे राजा लाउट (समुद्र का राजा) के नाम से पुकारते थे।

धरती पर रहने वाले जन्तुओं के पूर्वजों को लेकर वैज्ञानिकों के दो मतों (फेफड़े वाली मछलियाँ बनाम सीलाकैन्थ) के विवाद का फैसला इन मछलियों के जीन्स का परीक्षण करके ही किया जा सकता था, किन्तु मुश्किल यह थी कि किसी भी सीलाकैन्थ के अंगों को इतनी सावधानीपूर्वक सुरक्षित नहीं रखा गया था कि उनके जीन्स का विश्लेषण किया जा सके।

दक्षिण अफ्रीका में शुरू की गई सीलाकैन्थ पर्यावरण परियोजना की प्रेरणा स्रोत रोड्स विश्वविद्यालय की प्रोफेसर रोज़मेरी डॉरिंगटन थीं। उन्होंने कोमोरो द्वीप समूह के गाँवों में घूम कर इस परियोजना की जानकारी दी थी और स्थानीय वैज्ञानिकों को किसी सीलाकैन्थ के पकड़े जाने पर उसके आन्तरिक अंगों को सुरक्षित रखने का

अफ्रीका के पूर्व तट के समुन्दर में केन्या के मछुआरों द्वारा पकड़ी गई सीलाकैन्थ, 2001

प्रशिक्षण दिया था। मोरोनी कस्बे में उनका प्रतिनिधि सैयद अहमदा नामक पर्यावरणविद् था। सन् 2003 में कोमोरो द्वीप समूह में एक मछुआरे ने सीलाकैन्थ पकड़ी और उसे वह सैयद अहमदा के पास लेकर आया। अहमदा ने उस मछली के आन्तरिक अंगों को सावधानी-पूर्वक निकाल कर स्थानीय विज्ञान केन्द्र के फ्रीज़र में सुरक्षित रख लिया। कुछ ही दिनों के बाद अहमदा को परियोजना के सम्मेलन में भाग लेने के लिए ईस्ट लंदन जाने का अवसर मिला। बर्फ के बक्से में रख कर सीलाकैन्थ के आन्तरिक अंग वे अपने साथ ले गए और प्रोफेसर डॉरिंगटन को दिए। डॉरिंगटन ने पहला काम यह किया कि प्रयोगशाला में जाकर इन अंगों का सूक्ष्मदर्शी से परीक्षण करके यह देखा कि वे उचित ढंग से सुरक्षित रखे गए थे या नहीं।

अब समस्या यह थी कि इन अंगों से कोशिकाएँ निकाल कर उनके जीन्स का परीक्षण कहाँ किया जाए। संसार में गिनी-चुनी प्रयोगशालाओं के पास ही इस काम के लिए उपयुक्त आधुनिक उपकरण उपलब्ध थे। तब उन्होंने वॉशिंग्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्रिस अमेमिया से सम्पर्क किया।

अमेमिया सीलाकैन्थ की कहानी से प्रभावित तो थे ही। उन्होंने तुरन्त अपनी सहमति देकर काम शुरू कर दिया। उनके द्वारा किए गए जीनोम परीक्षण से यह फैसला होना था कि हमारे असली पूर्वज कौन हैं - मांसल पंखों वाले सीलाकैन्थ या फेफड़े वाली मछलियाँ?

लगभग 100 वैज्ञानिकों की टीम ने, जिसमें वैज्ञानिक और कम्प्यूटर विशेषज्ञ शामिल थे, आखिर सीलाकैन्थ के जीनोम का नक्शा बना लिया। इसके बाद उसके जीन्स की तुलना अन्य मछलियों, फेफड़े वाली मछलियों, कशेरुकी जन्तुओं और मनुष्य के जीन्स के साथ करने का काम शुरू हुआ। इस विषय पर अमेमिया और उनके सहयोगियों ने कई शोध पत्र प्रकाशित किए। फेफड़े वाली मछलियों का जीनोम इतना बड़ा होता है कि उसका पूरा विश्लेषण करना सम्भव नहीं हो पाया है, किन्तु सीलाकैन्थ के जीनोम पर अब तक हुए काम से लगता है कि फेफड़े वाली मछलियाँ हमारी अधिक निकट की पूर्वज हैं। सीलाकैन्थ हमारे चचेरे-ममेरे पूर्वज हैं।

अरविन्द गुप्ते: उच्च शिक्षा में एक लम्बे दौर तक प्राणीशास्त्र का शिक्षण देने के बाद डाइट, उज्जैन के प्राचार्य पद पर भी रहे हैं। 1997 में प्रशासन अकादमी, भोपाल से सेवानिवृत्त। एकलव्य के शैक्षणिक कार्यक्रमों से लम्बा जुड़ाव, इन्दौर में निवास।

यह लेख स्रोत फीचर्स के अंक मई, 2014 से लिया गया है।

स्पेसिमेन

सीलाकैन्थ मछली का जीवाष्म

RNI No. : MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, अरविन्द सरदाना की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन ई-10, शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल-462 016 द्वारा
एकलव्य से प्रकाशित तथा भण्डारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (म.प्र.)
से मुद्रित, सम्पादकः राजेश खिंदरी।